ज्योतिर्मय जीवन

- मुनि प्रमाणसागर

ज्योतिर्मय जीवन

प्रवचन संग्रह

मुनि प्रमाणसागर

ज्योतिर्मय जीवन

लेखक : **मुनि प्रमाणसागर**

आशीर्वाद : परमपूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज

प्रकाशक : **निर्ग्रन्थ फाउंडेशन**
22, अहिंसा, पुराना कबाड़खाना,
जुमेराती, भोपाल, फोन : 2542346

मुद्रण : विकास आर्फसेट, भोपाल, फोन : 5275658

प्रस्तुति

सन्त शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के परम प्रभावक शिष्य मुनिश्री समतासारग जी, मुनि श्री प्रमाणसागर जी एवं ऐलकश्री निश्चयसागर जी महाराज का फिरोजाबाद चातुर्मास अनेक अर्थों में उपलब्धि पूर्ण रहा हैं। परमपूज्य आचार्य गुरूवर्य के पावन चातुर्मास के सत्ताईस वर्षों के अन्तराल के बाद सम्पन्न इस वर्षा योग में समाज के सभी वर्गों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। मुनिसंघ की निर्दोषचर्या और चिंतन से समाज को नई दिशा मिली है।

इस वर्षायोग में मुझे व्यक्तिगत रूप से बड़ा लाभ हुआ है। मुझे पूज्य गुरूवर प्रमाणसागर जी महाराज के विशेष सम्पर्क/सान्निध्य में रहने का अवसर मिला है। मुनिश्री का गहन-गम्भीर ज्ञान, निर्दोष-निस्पृह चर्या और सहज-सरल वृत्ति ने मुझे भीतर तक प्रभावित किया है। पूज्य मुनिवर के मोहक प्रवचनों और कक्षाओं से मुझे जो दिशा मिली है, वह मेरे जीवन की अमूल्य निधि बन गई है। मुनिश्री के सम्पर्क में आने के बाद मेरे चिंतन में एक नया मोड़ आया है। मुझे अब ऐसा लगने लगा है कि अब तक चालीस वर्षों तक मैंने सिर्फ अर्थ की आराधना की है। अब मुझे परमार्थ की सेवा करनी चाहिए।

पूज्य मुनिवर निरन्तर ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं। जब कभी भी मैं उनके कक्ष में जाता, वे मुझे लिखते-पढ़ते अथवा धर्म कार्य में व्यस्त नजर आते है। मैं चुपचाप एक ओर बैठकर उनकी वीतराग छवि का अवलोकन कर स्वयं को धन्य महसूस करता था। इसी बीच मुझे मुनिश्री की बहुचर्चित कृति 'दिव्य जीवन का द्वार' पढ़ने का सौभाग्य मिला। उक्त कृति को पढ़कर मेरे मन में भावना जगी कि मुझे इस प्रकार की कृति के प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त करना चाहिए। इसी दौरान मैंने देखा कि मुनिश्री लेखन कार्य में व्यस्त हैं। एक दिन अवसर पाकर मैंने

मुनिश्री से निवेदन किया कि मुनिवर अबकी बार आपकी जिस कृति का भी प्रकाशन हो,उसके प्राकशन का सौभाग्य हमें प्रदान करने की अनुकम्पा करें। उस समय मुनिश्री मुस्कुरा कर रह गये। पर हमारे बार-बार निवेदन पर प्रस्तुत कृति ''ज्योतिर्मय जीवन'' के प्रकाशन का आशीर्वाद प्रदान कर मुनिश्री ने हमें अनुग्रहीत किया हैं। मुनिश्री की आशीर्वादमयी इस अनुकम्पा से हम अपने पूरे परिवार सहित उनके पावन चरणों में श्रद्धा सहित नमन् करते हैं।

यह कृति हम जैसे अंधकार में भूले भटके प्राणियों के लिए ज्योति-किरण बनकर सच्ची राह दिखायेगी। इसी आशा और विश्वास के साथ हम इसे पाठकों को सौप रहें हैं।

गुरुचरणानुरागी

सतीशचन्द्र अग्रवाल (जैन)

अनुभव की अभिव्यक्ति

मुनिश्री प्रमाणसागर जी महाराज ऐसे जैन दिगम्बर-सन्त हैं, जिनकी सहज मुस्कान में सरलता, वात्सल्य, वीतरागी छवि की त्रिवेणी झलकती है। जहाँ विद्वत्ता का लेशमात्र दिखावा नहीं है। शंका-समाधान हो या प्रश्नोत्तर पाने के पिपासु-क्षण, एक स्वाभाविक वातायन में चर्चा का प्रवाह चलता रहता है। मुनिश्री को सन्दर्भ बताते समय ग्रन्थ नहीं खोलने पड़ते हैं। यह मुनिश्री की विलक्षण प्रतिभा और अभीक्ष्ण ज्ञानोंपयोग का उदाहरण है।

अन्तर्मन को भाने वाली उनकी प्रवचन शैली, जैसे ज्ञान का सागर अपनी उत्ताल तरंगों में तरंगायित हो रहा है। या कहें कि ज्ञान की स्रोतस्विनी प्रकृति की सुरम्य गोद से निकलकर अपने ही अगम-सागर में समालीन होने के लिए आतुर हो।

मुनिश्री के प्रवचन का यह वैशिष्ट्य है कि वे जो कहते हैं, वह मात्र लोकरंजन नहीं होता, अपितु आगम का एक सरल बोधगम्य चिन्तन प्रवाह होता है। प्रस्तुति इतनी मोहक और श्रवणीय है कि मन बोझिल नहीं होता। वस्तुत: सन्त के प्रवचन उनके आचरण से मुखरित होते हैं जो वैसी ही सुखानुभूति देते हैं, जैसे सुस्वादु भोजन को मुख में ग्रहण कर उसकी रसानुभूति का तृप्ति-सुख होता है।

सन्त की चर्चाएँ उनकी चर्या का प्रक्षेपण हुआ करती है।

सन्त जो करता है, वही बोलता है। उसकी कथनी और करनी की एकरूपता में प्रेरणा और सम्मोहन का जादू घुला होता है। वह जो कहता है-प्रज्ञा से उद्‌भूत-आध्यात्मिक साधना का एक प्रतिमान होता है।

सन्त-वचन ही प्रवचन बन जाते हैं। जो जीवन के नैतिक और धार्मिक विरासत की अमोल धरोहर होते हैं।

प्रस्तुत कृति भगवान् महावीर के छब्बीस सौवें जन्मोत्सव के अवसर पर वर्णी कालोनी सागर के सुधी श्रावकों के मध्य प्रदत्त मुनिश्री के मंगल प्रवचनों का

सम्पादित रूप है, जो अब ''ज्योतिर्मय जीवन'' के रूप में मनुष्य की चेतना को ज्योतिर्मय बनाने का सशक्त माध्यम बनकर ''तमसो मा ज्योतिर्गमय'' की उक्ति को चरितार्थ कर रहा है। चेतना तभी ज्योतिर्मय बन पाती है, जब वह अपनी मौलिकता में लौटती है। चेतना जितनी परिष्कृत और निर्मल बनती है, उसकी ज्योतिर्मयता उतनी बढ़ती जाती है।

कलुषित चेतना काले धुऐं के समान भारी और अधोगामी होती है। यह जीवन की ज्योति-शिखा नहीं बन पाती। परिष्कृत उन्नत चेतना आलोक की पर्यायवाची बनकर केवलज्ञान स्वरूप झलकने लगती हैं।

पदार्थ और पदार्थ जन्य भोग के व्यामोह में फँसी आज की पीढ़ी दिशाविहीन हो गई है। उसे कुछ सूझ नहीं रहा है। मुनिश्री के ये प्रवचन भोगवाद के अंधकार से आच्छन्न आज की नई पीढ़ी को जो पश्चिमी जीवन-मूल्यों के अन्धानुकरण की होड़ में है, उन्हें नई रोशनी प्रदान कर उदात्त जीवन-मूल्यों का भाव-बोध करा रहे हैं।

बोध कथाओं, उदाहरणों, उद्धरणों और दृष्टान्तों के द्वारा सैद्धान्तिक गूढ़ज्ञान को सहज और पारदर्शी बना दिया। आध्यात्मिकता को जीवन-व्यवहार से जोड़कर समन्वय का जो क्षैतिज निहारा है, उससे निश्चित ही भटकती मानवता को एक प्रशस्त राह का दर्शन हुआ है।

मुनिश्री के मंगल प्रवचनों की यह चौथी कृति है। उसके पूर्व-'दिव्य जीवन का द्वार', 'धर्म जीवन का आधार' और 'अन्तस् की आँखें' पाठकों और श्रावकों द्वारा अत्यन्त प्रसंशित होकर लोकप्रिय हुई हैं।

प्रस्तुत कृति- 'ज्योतिर्मय जीवन' जहाँ संवेदनशुन्य मनुष्य के लिए एक ज्योतिकलश साबित होगी, वहीं चेतना के विध्वंसचरणों के लिए एक सम्बल-शक्ति का नियामक बनेगी। इसके साथ ही आध्यात्मिक चेतना और अपनी मौलिक अस्मिता से बेखबर जनों को सोचने-समझने के लिए आत्म-बोध के रजत-कण साबित होगी।

सबसे बड़ी बात हैं प्रवचनकार में सन्तत्व की आत्मा का पारदर्शी दर्शन। जिसके मूल में है- आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागरजी की अपने सुयोग्य शिष्यों को दी गई कठोर साधना की अग्नि-परीक्षा। जिससे गुजर कर संघ की अग्रिम पंक्ति के साधुओं में एक दार्शनिक छवि और तप की गहन ऊष्मा की स्वर्णिम-प्रभा भास्वित है।

आचार्यश्री अपने शिष्यों की दीक्षाओं में स्वयं के तपस्वी व्यक्तित्व और आध्यात्मिक रस की गुरुता का एक अंशदान कर उन्हें इतना स्वावलम्बी, निर्भयी, नि:शंक, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी बना देते हैं कि वे सिंहवृत्ति का अनुसरण कर समाज में एक विशिष्ट छाप छोड़ते हैं।

मुनिश्री प्रमाणसागर जी ऐसे अग्रिम पंक्ति के शिष्यों में से एक हैं, जिनकी निजता में आत्म-सम्पदा का कोष नज़र आता है।

प्रस्तुत कृति का कलेवर-ऐसे नौ प्रवचनों से समावेशित है, जो जीवन की सम्यक् राह में मील के पत्थर हैं। अथवा सम्यक्त्व के शिला लेख हैं। इस प्रकार नैतिक जीवन की सलिल सरिता में अवगाहन करने के लिए इसका आद्योपांत पारायण प्रत्येक श्रावक सुधी-धर्मात्मा को विवश कर देगा। इसमें नैतिक-मूल्यों की जो अवधारणा प्रस्तुत की गयी है, वह जैनधर्म और जैनदर्शन की ही निष्पत्ति हैं।

- अनन्त शब्दों की चूलिका में कहने का अनन्त है।
- पढ़ने और सुनने को भी अनन्त है।
- परन्तु अनन्त को कौन समेट पाया है?
- सीमित को ही सजाकर रखा जा सकता है।

अनन्त सागर के जल की वाष्पन से ही हमारी अंजुलि मीठे पानी से भरती है, जो प्यास मिटाती है।

अनन्त के सीमन का एक सफल प्रयास है-यह कृति।

आशा और विश्वास है कि 'दिव्य जीवन का द्वार' कृति की भाँति- 'ज्योतिर्मय जीवन' का भी सुधी पाठक अभिनन्दन करेंगे और कृति में विवेचित विषयों के रहस्य-रस की सुखद अनुभूति ग्रहण करेंगे।

प्राचार्य निहालचन्द्र जैन

बीना सागर (म.प्र.)

हृदयोद्गार

मनुष्य सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। कहा भी गया है– न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्। उसकी यह श्रेष्ठता तन से नहीं, मन से आँकी जाती है। शरीर की अपेक्षा तो वह एक साधारण कोटि का जीव है। शरीराश्रित कोई अंग या कर्म ऐसा नहीं है, जिसमें पशु उससे श्रेष्ठ न हो। वृषभस्कन्ध, गृद्धदृष्टि, सिंहनाद, अश्वगति जैसे शब्दों से तो यही आभास होता है। मनुष्य की विशेषता है–उसका विकसित मन और मस्तिष्क, जिसे मनीषियों ने 'हिरण्यमय कोष' कहकर महिमा–मण्डित किया है। विकसित मन–मस्तिष्क में छिपी रहती है एक चिंतनशील चेतना, जिसका अन्य प्राणियों में अभाव पाया जाता है। चिड़ियाँ दाना चुगकर अपना पेट तो भर लेती हैं किन्तु रोटी बनाना नहीं सीख पातीं। बन्दर पेड़ों की डालियों को पकड़कर कूदना फुदकना और लटकना तो जानता है, पर अपने रहने के लिए एक छोटा–सा घर बनाना नहीं सीख पाता। पशुओं के सामने न कोई उद्देश्य रहता है और न कोई लक्ष्य ही, किन्तु मनुष्य की हर योजना सुविचारित और सार्थक होती है। एक श्रेष्ठ मानव की चाह होती है:–

खुश रहना, खुश रखना, जीना और जिलाना।
प्रभु! मेरे जीवन का, यही एक हो गाना॥

सम्यक् चेतना के अभाव में पशुओं के झुण्ड को 'समज' और समीचीन चेतना से युक्त होने से मनुष्यों के समूह को 'समाज' कहा जाता है। अनुपयोगी होने से कुत्ते का भोंकना 'भषण' कहलाता है, किन्तु मनुष्य के उपयोगी वचन 'भाषण' कहलाते है। ह्रस्व और दीर्घ मात्रा का यह अन्तर भी मनुष्य की श्रेष्ठता का सूचक है। इस श्रेष्ठता को बनाए रखने के लिए होश सँभालते ही उसे सादा जीवन, सदाचार और उच्च विचार की शिक्षा दी जाती है। किसी नीतिकार ने कहा भी है– 'तत्कर्म कुर्यात् येनान्ते सुखमेधते' अर्थात् ऐसे कर्म करने चाहिये, जिससे अन्त में सुख मिले। करणीय या अकरणीय का बोध हमें सदियों से सन्तों ने ही दिया है। वे शब्दों की

आँखों से नहीं, प्रज्ञा की आँखों से देखते हैं। मननशील मुनि ही प्राणियों को सही मार्ग दिखा सकते है। वे कहते है:-

आँख खोलकर देखो, परखो, करो न बन्द बुद्धि के द्वार।
छिन्न-भिन्न कर दो तमसावृत, रूढ़िवाद का कारागार॥

जो भी शुभ है, वह जीवन को ज्योतिर्मय बनाता है, जबकि अशुभ से जीवन में अन्धकार छा जाता है। हमें वही आलेख या प्रवचन पढ़ने-सुनने चाहिये, जो जीवन को प्रकाश से भर दें। सारी अच्छाइयाँ ही जीवन का प्रकाश हैं। पूज्य मुनिश्री की यह कृति अथ से इति तक 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' स्वर्णिम सूत्र को पकड़कर ही आगे बढ़ी है। मानव-जीवन को सुन्दर, सुपथगामी और सुखी बनाने की चेष्टा दिखाई देती है-पूज्य मुनिश्री के इन अमृत प्रवचनों में।

जुगनू जब तक निष्क्रिय बैठा रहता है, तब तक ज्योतिर्मय नहीं होता। जब वह उड़ता है, अपने पंखों को गति देता है, तभी वह चमकता है। किसी के व्यक्तित्व की दीप्ति का आधार भी जीवन की गतिशीलता ही है। जीवन की गतिशीलता का अर्थ है-अच्छाइयों के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते जाना। सद्विचार एवं सत्कर्म ही व्यक्ति को ऊँचा उठाते हैं, आगे बढ़ते या ऊर्ध्वगामी बनाते हैं। ऊर्ध्वारोहण से वंचित जीवन अध्यात्म की दृष्टि से एक निष्क्रिय जीवन है और ऐसी निष्क्रियता अभिशाप है। पूज्य मुनिश्री प्रमाणसागर जी महाराज अपने प्रवचनों में भव्य जीवों को हमेशा ही जीवन को ऊर्ध्वगामी या समुन्नत बनाने की प्रेरणा देते हैं। प्रस्तुत कृति में भी ऐसे ही कुछ प्रेरक सूत्र जो जीवन को ज्योतिर्मय बना सकते हैं, हमें पढ़ने के लिए मिलेंगे। बीच-बीच में छोटे-छोटे उदाहरणों और प्रसंगों ने इस कृति में भी ऐसे ही कुछ प्रेरक सूत्र, जो जीवन को ज्योतिर्मय बना सकते हैं, हमें पढ़ने के लिए मिलेंगे। बीच-बीच में छोटे-छोटे उदाहरणों और प्रसंगों ने इस कृति को किसी रमणीय कथा की तरह रोचक, सरस एवं पठनीय बना दिया है।

धर्म एक जीवन्त शक्ति है। पूज्य मुनिश्री स्वयं में धर्म की गंगोत्री ही हैं। उनके चिन्तन और चलन में अभिन्नता है। जो उनके आचरण में है, वही उनकी जिह्वा पर आता है और इसीलिए हमारे चित्त पर अद्‌भुत प्रभाव छोड़ता है। उनके इन प्रवचनों में मर्त्य मानव को अमरता के संस्कार उपलब्ध हो सकते हैं। उनके इन प्रवचनों का सार है:-

❖ अशुभ परिणाम ही हिंसा है। उससे बचना चाहिए।
❖ उससे बचने का उपाय है सहिष्णुता, समन्वय और सहजीवन, जिसका आधार अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ है, पूर्वाग्रह-मुक्त चिंतन। वह संवाद का पक्षधर है, विवाद का नहीं।
❖ अनपेक्षित विकल्पों से बचना ही सुख का मार्ग हैं।
❖ आहार और धर्नाजन जीवन में आवश्यक तो है, पर होने चाहिए वह धर्मपूर्वक। धर्म और धन्धे का तथा भोजन और भजन का समन्वय ही शान्ति का उपाय है।
❖ सेवा, वात्सल्य और आत्मानुशासन में ही जीवन की सफलता का रहस्य निहित है।

आशा है, एक निस्पृह, निष्काम और निरतिचार चर्या के धनी मुनि-श्रेष्ठ की यह कृति जीवन को ज्योतिर्मय बनाने का संकल्प जगाने में सार्थक सिद्ध होगी। आज से सत्ताईस वर्ष पूर्व पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का पावन वर्षायोग इस नगर में हुआ था, जिसकी गहरी छाप आज भी इस नगर के जनमानस पर है। इस वर्ष उनके इन वरद शिष्यों (पूज्य मुनिश्री समतासागर, प्रमाणसागर जी एवं ऐलक निश्चयसागर जी) के वर्षायोग की स्मृतियों को भी लोग कभी भुला नहीं पायेंगे। इस वर्षायोग की विराम-बेला में इस कृति के प्रकाशन से हम स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं। पूज्य मुनिश्री को हमारा शतशः प्रणाम एवं प्रकाशक को भूरीशः बधाइयाँ

104, नईबस्ती
फिरोजाबाद
31 अक्टूबर 2002

नरेन्द्र प्रकाश जैन
(अध्यक्ष-श्री भारतवर्षीय दि. जैन शास्त्री परिषद)

प्रवचन क्रम

क्र.	अध्याय	पृष्ठ
1.	आत्मौपम्य दृष्टि, अहिंसा की सृष्टि	1
2.	आग्रह छोडें, अपेक्षा जोड़ें	14
3.	इच्छाओं का करें नियंत्रण	24
4.	धर्म से जुड़कर करें धनार्जन	37
5.	सुचरित्र का आधार, सम्यक् संस्कार	50
6.	सात्विक आहार, सुख का आधार	62
7.	साधर्मी को गले लगाओ	73
8.	सेवा ही पूजा है	87
9.	समता: जीवन की मूल सम्पदा	99

आत्मौपम्य दृष्टि, अहिंसा की सृष्टि

भगवान् महावीर की छब्बीस सौवी जन्म जयन्ती पूरे विश्व में मनाई जा रही है। शासन-प्रशासन और समाज सब अपने-अपने स्तर पर भगवान् महावीर के जीवन दर्शन को सारे विश्व में फैलाने में सचेष्ट हैं। आज के युग में जब सारे विश्व पर हिंसा, आतंक और क्रूरता के बादल छाये हुए हैं, भगवान् महावीर का जीवन दर्शन अत्यधिक प्रासंगिक है। आवश्यकता और अपेक्षा है उसके युगानुरूप व्याख्या की।

हमने सदैव आदर्श बहुत ऊँचे बनाये है। आदर्शों को पूजने की परम्परा हमारे देश में बड़े पुरातन काल से रही है। परन्तु आदर्शों को पूजने मात्र से हमारा जीवन आदर्श नहीं बन सकता। जीवन को आदर्श बनाने के लिए उनका अनुसरण भी जरूरी है। भगवान् महावीर की छब्बीस सौवी जन्म जयन्ती मनाने की सार्थकता मात्र बड़े-बड़े आयोजनों, सेमिनारों, संगोष्ठियों और जलसों के आयोजन मात्र में नहीं है। आवश्यकता है, उनके सिद्धान्तों के अनुकरण की। भगवान् महावीर के अनुयायियों से मैं यही कहना चाहता हूँ कि तुम महावीर को मानते ही हो, महावीर की भी मानों। महावीर को मानने और महावीर की मानने में बड़ा अन्तर है। भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को अपनाये बिना महावीर की जय-जयकार हमारे जीवन का उद्धार नहीं करा सकती।

आज के बदलते हुये परिवेश में जब कि पश्चिमी जीवन मूल्य हम पर तेजी से हावी होते जा रहे हैं, अपसंस्कृतियाँ दिनोंदिन अपने पाँव पसारती जा रही है। परिणामस्वरूप मनुष्य का जीवन, तनाव, कुण्ठा, हताशा और दुराशा का शिकार बनता जा रहा है। आपाधापी के इस विषम दौर में हमें भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की आज के सन्दर्भ में पुनर्व्याख्या की आवश्यकता है, जिससे एक ऐसी जीवन शैली का विकास हो जिसे अपनाकर अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनाया जा सके।

जिस जीवन शैली की बात मैंने आपसे की उसे नौ सूत्रों के माध्यम से कहा जा सकता है। इन सूत्रों को अपनाकर मानवता के अभीष्ट जीवन मूल्यों को आत्मसात् किया जा सकता है सांसारिक दायित्वों के निवर्हन के साथ आत्मोन्मुखी होने की कला सीखी जा सकती है। वे नौ सूत्र हैं -

अहिंसा
अनेकान्त
इच्छा परिणाम
सम्यक् आजीविका
सम्यक् संस्कार
आहार शुद्धि
साधर्मी वात्सल्य
सेवा
आत्मानुशासन

भगवान् महावीर के जीवन दर्शन को ये सूत्र अभिनव/नव्य आयाम प्रदान कर मानवीय जीवन मूल्यों का संरक्षण/संवर्धन कर सकते हैं।

आज मैं आपसे पहले सूत्र-अहिंसा के विषय में चर्चा करने जा रहा हूँ। अहिंसा मनुष्यत्व की प्रथम पहिचान है और मनुष्य की मौलिकता उसकी निजता का जीवन सूत्र है। यह केवल जीव वध के परिहार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मनुष्य के अन्तस् चेतना को छूने वाली वह प्रक्रिया है, जिसमें समता का दर्शन और सह अस्तित्व की वैश्विक भावना है।

'जिओ और जीने दो' का दिव्य संदेश अहिंसा की प्रतिध्वनि है। अत: अहिंसा जैनाचार का प्राण बन गया है। अहिंसा की पावनता को अपनाकर ही हम अध्यात्म की गहराई में उतर सकते हैं।

अहिंसा का मूल आत्म-साम्य की भावना है। भगवान् महावीर कहते हैं कि तत्त्वत: सभी आत्माएँ समान हैं। सभी जीवों में एक सी आत्मा का वास है। सुख दु:ख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है। जन्म-मरण की प्रतीति सब करते हैं। जिस प्रकार तुम्हें जीवन प्रिय है; मरण अप्रिय है, सुख प्रिय है, दु:ख अप्रिय है, अनुकूलता प्रिय है प्रतिकूलता अप्रिय है, उसी प्रकार संसार के अन्य प्राणियों को भी सुख आदि प्रिय हैं और दु:ख आदि अप्रिय हैं। सभी जीवन जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। अत: आत्मसत्ता के आधार पर अपने से भिन्न जगत् के अन्य प्राणियों को भी अपने समान समझकर किसी भी जीव की हिंसा मत करो।

अहिंसात्मक भावना के विकास के लिए सह-अस्तित्व की भावना का विकास जरूरी है। जब तक मनुष्य जगत् के अन्य प्राणियों को भी अपने समान नहीं मानता, उनकी आत्मसत्ता को अपनी आत्मा के समान स्वीकार नहीं करता, तब तक वह अहिंसक नहीं बन सकता। सन्त कहते हैं- जगत् के अन्य प्राणी भी तुम्हारे समान हैं। अपनी दृष्टि को व्यापक बनाकर देखों, सभी में तुम्हें अपना ही प्रतिबिम्ब नजर आयेगा। जब जगत् के अन्य प्राणियों में हमें हमारा ही प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगेगा तो हिंसा की भावना अपने आप ही दूर हो जायेगा, क्योंकि कोई भी व्यक्ति कभी स्वयं की हिंसा नहीं करना चाहता।

यह सब स्वयं की संवेदनशीलता पर निर्भर है। जो जितना अधिक संवेदनशील होगा, उसकी अहिंसा उतनी ही व्यापक होगी। अहिंसा की व्यापकता हमारी संवदेनशीलता की व्यापकता पर निर्भर है। प्राणी के मन में जिनके प्रति भी संवेदना होती है, वह उनके प्रति हिंसक नहीं हो पाता। क्रूर से क्रूर प्राणियों के जीवन में भी झाँककर देखें, वह किन्हीं सन्दर्भों में अहिंसक अवश्य होगा। एक कसाई जो रोज अपने क्रूर हाथों से अनेक पशुओं का वध करता है, उन्हीं हाथों से अपने प्यारे बच्चों को प्यार से खिलाता भी है। उसकी करुणा उसके बच्चों पर अभिव्यक्त होती है; क्योकिं वह उनके प्रति संवेदनशील है। एक शेर अपने तीक्ष्ण पँजों से अनेक जीवों का शिकार करता है, उन्हीं पँजों से अपने बच्चों को खिलाता है। बिल्ली जिस मुख से चूहे को पकड़ती है, उसी मुख से अपने बच्चों को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उस कसाई की करुणा, उसका वात्सल्य, उसकी अहिंसा का भाव केवल अपने बेटे तक ही सीमित क्यों है? या बिल्ली का ममत्व केवल अपने बच्चों तक ही सीमित क्यों रहता है? चूहों के प्रति वह भाव क्यों नहीं उमड़ पाता? यही तो संसार की विचित्रता है।

प्राणियों का चेतन-स्तर जैसे-जैसे उन्नतशील बनता जाता है, उसकी संवेदनशीलता भी व्यापक होती जाती है। जैसे-जैसे उसकी संवेदनशीलता व्यापक बनेगी, उसकी जीवन-शैली अहिंसक बनती जाएगी। भगवान् महावीर का यही शाश्वत संदेश है- व्यक्ति की जिसके प्रति जितनी अधिक संवेदनशीलता होगी, वह

उसके प्रति उतना ही अधिक अहिंसक होगा।

भगवान् महावीर के बाल जीवन पर आधारित एक बड़ा ही मार्मिक प्रसंग है–महावीर अपनी माता त्रिशला के साथ राजोद्यान में टहल रहे थे। उद्यान के बीच में हरी दूब का एक बड़ा सा गोलाकार मंडल था। उसके बीच में संगमर्मर का एक क्रीड़ा पर्वत था। जगह–जगह फब्बारे छूट रहे थे। महावीर चुपचाप पेड़–पौधों, फूलों की शोभा को निहारते हुये आगे चले जा रहे थे।

माता त्रिशला अपने परिकर के साथ विचरती हुई हरी दूब के विस्तृत मंडल में बिहार करने लगी। वे गर्मी की सन्ध्या में नंगे पैरों से उस पर चलकर भीगीं दूब का शीतल सुख पाना चाहती थी। महावीर मंडल के बाहर खड़े–खड़े उन सबको ताकते रहे गये। मां के बहुत पुकारने के बाद भी उन्होंने दूब के आंगन में पैर नहीं बड़ाया। मां से रहा नहीं गया। आप ही दौड़ी आई और बेटे को अपने में सटाकर बोली– 'यहां क्यो खड़ा रह गया, बेटा! चल न भीतर, देख तो दूब कैसी शीतल और कोमल है। और देख तो वे फब्बारे।' महावीर चुप रहें। बोले नहीं। मां ने बेटे के गाल और बाल सहला कर पूछा अरे चुप क्यो है, तभी देखा महावीर के गाल गीले हैं।

मां ने पूछा बेटा तुझे यह क्या हो गया?

महावीर ने भोलेपन से जबाब दिया– तुम सब इस नन्ही कोमल दूब को रौंदती हुई चलती हो न, तो हमकों बहुत दुख लगता है। लगता है हमारे ऊपर ही तुम सब चल रही हो। हमारी सारी पीठ छिल गई हैँ। मां ने पीठ सहलाते हुए देखा तो जगह जगह पैरो के निशान पड़े थे। ऐसा लगा जैसे अभी–अभी रक्त छलक आएगा। मां एकदम भौचक्क रह गई।

यह थी भगवान् महावीर की संवेदना। इसी संवेदना ने उन्हें अहिंसा की प्रति मूर्ति बना दिया। जगत् के चराचर प्राणियों को अपने समान समझना ही अहिंसा का मूल अधिष्ठान है। धन्य हैं वे लोग जो पर प्राणी की पीड़ा को अपनी पीड़ा की तरह महसूस करते हैं। निश्चित ही वे महान् हैं। वहीं सम्यग्दृष्टि है, धर्मात्मा है जो जगत् के चराचर प्राणियों को अपने समान समझता है। भगवान् महावीर कहते है 'आयतुला पयासु' जगत् के प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझने की कोशिश करो। सबकी आत्मा एक सी है। जगत् के प्रत्येक प्राणी को आत्मतुल्य समझों। आत्मौपम्य की पवित्र दृष्टि के विकसित होते ही तुम्हारे हृदय में अहिंसा के अमृत सागर की लहरें हिलोरे लेने लगेगी। आत्मौपम्य की उदात्त भावना से अनुप्राणित होते ही क्रूर से क्रूर

व्यक्ति भी करुणा मूर्ति बन जाता है। एक बड़ा मार्मिक प्रसंग है–

काल सौकरिक अपने समय का कुख्यात कसाई था। प्रतिदिन वह पांच सौ भैसों का वध किया करता था। यह महावध उसका कुलगत धंधा था। काल सौकरिक के बेटे का नाम था ''सुलस''। कैसा विचित्र संयोग कि महाक्रूर–कर्मी बाप का बेटा एकदम दयार्द्र था। अहिंसा की भावना से ओत–प्रोत था। हिंसा के प्रति उसके मन में गहरी ग्लानि थी। बूचड़खाना जाना तो बहुत दूर उसके नाम से ही उसे कँपकपी सी होती थी। पता नहीं कौवे के घर पर यह हंस कैसे आ गया।

काल सौकरिक पुत्र की इस अहिंसक वृत्ति को देखकर मन ही मन बहुत चिन्तित था। ज्यों–ज्यों वह वृद्धत्व के नजदीक पहुंच रहा था, उसकी यह चिंता क्रमशः बढ़ती जा रही थी। वह जब–तब पुत्र को अपना हिंसा का दर्शन समझाता। कुलधर्म की महत्ता बखानता और उसे निभाने की प्रेरणा देता। पर सुलस पर इन सबका कोई असर नहीं हुआ, प्रत्युत हिंसा के प्रति उसकी ग्लानि बढ़ती ही गई।

काल सौकरिक की मृत्यु हो जाने के बाद कौटुम्बिक जन एकत्रित हुए। उन्होंने सुलस को पिता का भार संभालने के लिए कहा सुलस ने कहा–जितना निभ सकेगा उतना निभाने का प्रयास करुँगा।

कौटुम्बिक जनों ने उसके सिर पर परिवार प्रमुख की पगड़ी बाँधने से पूर्व हाथ में एक तलवार पकड़वाई और पास बँधे भैसे की गर्दन पर चलाने का निर्देश दिया। कुल–परम्परा के अनुसार परिवार प्रमुख बनने के लिए ऐसा करना आवश्यक माना जाता था। पर सुलस की आत्मा ने उसे यह कार्य करने की अनुमति नहीं दी। उसने भैसे पर प्रहार करने से स्पष्ट इनकार करते हुए कहा– इसके लिए आप लोग मुझे बाध्य नहीं कर सकते।

कौटुम्बिक जनों ने कहा–'बाद में तुम्हारी जैसी इच्छा हो सो करना पर अभी रस्म के रूप में एक बार तो तलवार चलानी ही होगी। अन्यथा तुम्हारे पिता की कीर्ति पर कालिख पुत जायेगी। समूची विरादरी बदनाम हो जायेगी।'

सुलस इधर कौटुम्बिक जनों के आग्रह को देख रहा था और उधर मूक भैसे की दयनीय दशा को। उसका दिल दहल उठा। उसने कौटुम्बिक जनों से कहा–

'यदि तलवार चलानी इतनी जरुरी है तो मैं अपने पैर पर चला सकता हूँ मूक पशु पर नहीं।' ऐसा कहते हुए अपने पैर पर तलवार चलाने के लिए अपना

हाथ ऊपर उठाया। पारिवारिक जनों ने झट लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और कहा– 'यह क्या पागलपन है। अभी पैर कट जाता तो फिर उम्रभर रोते रहते।'

सुलस ने अत्यंत गंभीर और शांत स्वर में अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहा 'मैं पिताजी का उत्तराधिकारी अवश्य हूँ पर उनके दुष्कृत्यों का नहीं। पैर काटने से जैसा दु:ख मुझे होता है वैसा ही दु:ख इस भैसें को भी होता हैं। हांलाकि मैं और मेरे जैसे प्राणी अपने दु:ख को व्यक्त कर सकते है और भैसा नहीं कर सकता है, परन्तु दु:ख तो सबका एक सरीखा ही है। मौत मैं नहीं चाहता तो यह भैंसा भी नहीं चाहता। फिर इस भैसे पर तलवार का प्रहार करना अनर्थ है। घोर अन्याय है। मैं यह अनर्थ और अन्याय कदापि नहीं कर सकता।'

सच है ऐसी संवेदना के जगजाने के बाद हिंसा और क्रूरता की वृत्ति पनप ही नहीं सकती। इसलिए हमारी संस्कृति में सर्वभूतात्म भावना की बात की गई है। सबको अपने प्राण प्यारे हैं। प्राणों से प्रिय किसी को कुछ भी नहीं है। अत: जैसे हम अपने ऊपर दया का भाव रखते हैं वैसे ही दूसरों पर भी दया करें। जैसे हमें अपने प्राण प्यारे हैं वैसे ही संसार के सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली है उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें। आत्मौपम्य की इसी दृष्टि में अहिंसा की सृष्टि है।

प्राय: अहिंसा का अर्थ हम जीव वध का परिहार करते हैं। भगवान् महावीर ने कहा है कि केवल जीव वध का परिहार ही अहिंसा नहीं है। अहिंसा का मतलब है मन-वाणी और शरीर के स्तर पर किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाना। शरीर के स्तर पर अहिंसा का पालन करने वाले बहुत मिल सकते हैं, वाणी के स्तर पर अहिंसक भी कदाचित् मिल सकते हैं, लेकिन मन के स्तर पर अहिंसा का पालन करने वाले बहुत दुर्लभ हैं।

मन के स्तर पर अहिंसक होने का मतलब है कि मन में अहिंसक विचार उत्पन्न हो, मन स्वच्छ हो। दूसरों की आलोचना, दुर्भावना-पूर्ण निंदा, से बढ़कर कोई हिंसा या पाप नहीं है। अत: अहिंसा का सर्वांगीण स्वरूप ग्रहण करना चाहते हैं, तो तीनों स्तर पर मन, वाणी और शरीर के स्तर पर अहिंसक बनने/होने का प्रयत्न करना चाहिए।

पहला प्रयास शरीर की हिंसा को छोड़ने का होना चाहिए, जो सहज सम्भाव्य है। दूसरे प्राणियों की हमारे द्वारा विराधना न हो, हमारे निमित्त से उन्हें कष्ट न हो।

दूसरा प्रयास वाणी के द्वारा हो। हमें वाणी मिली है, तो उसका सदुपयोग हो।

वाणी के द्वारा हम बहुत हिंसा करते हैं। आचार्य उमास्वामी देव ने हिंसा की परिभाषा बताते हुए सूत्र कहा–

''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा॥''

अपने प्रमाद से दूसरों को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। केवल जान से मार देना ही हिंसा नहीं है। कई बार ऐसा होता है कि वे वाणी का ऐसा तीर चलाते हैं कि वह यथार्थ तीर से भी ज्यादा तीखा और जहरीला होता है। तीर या बाण से बींधा आदमी तो तत्काल मर जाता है, परन्तु वाणी के बाण से घायल आदमी जीते-जी अन्दर ही अन्दर पीड़ित होता रहता है। कहा जाता है कि बाण का घाव तो कालान्तर में भर सकता है, लेकिन वाणी का घाव भव-भवान्तर तक टीस उत्पन्न करता रहता है। अत: वाणी का संयम बहुत महत्वपूर्ण है।

किसी को अपशब्द द्वारा अपमानित करना हिंसा का एक विकृत रूप है। निष्ठुर, असत्य, कर्कश, अप्रिय वचन का उच्चारण हिंसा है। संसार में ऐसे भी प्राणी हैं– एकेन्द्रिय जीव, जिनके पास जिह्वा ही नहीं है। उन्हें वाक् शक्ति का अभाव है। दो इन्द्रिय आदि प्राणियों के पास वाक् शक्ति है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति नहीं है। उनके पास भाषा नहीं है। मनुष्य ही अकेला ऐसा प्राणी है, जिसको वाक्शक्ति के साथ-साथ अभिव्यक्ति के लिये भाषा भी मिली है।

अस्तु, हमारी वाणी वीणा जैसी होनी चाहिए, बाण जैसा नहीं। हमारी भाषा-वाणी में मधुरता, सरसता, मिठास होनी चाहिए जो कर्ण प्रिय होने के साथ-साथ हृदयप्रिय लगे। वाणी से दूसरों का मन ऐसे ही झंकृत हो उठे जैसे संगीत में वीणा के स्वर सुनकर। यदि वाणी सुनकर दूसरा व्यक्ति तिलमिला उठे, उसके भीतर छटपटाहट होने लगे तो यह वाणी की हिंसा ही है।

भगवान् महावीर ने मन की हिंसा को सबसे बड़ी हिंसा कहा है। हिंसा की दो प्रकार से व्याख्या की गई है।

1. द्रव्य हिंसा – किसी जीव का मर जाना यह द्रव्य हिंसा है।
2. भाव हिंसा – जीव मरे या न मरे, परन्तु मन में उसकी हिंसा का भाव हो जाना, भाव-हिंसा है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते है :-

मरदु व जीवदु व जीवा अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

जीव का मरना या जीना महत्वपूर्ण नहीं है। जीव मरे या न मरे परन्तु अयत्नाचारी नियमत: हिंसक है। अयत्नाचारी व्यक्ति सावधानी पूर्वक चल रहा है और उसके द्वारा फिर भी अनजाने में जीव का विघात हो जाता है, तो भी वह अहिंसक है।

भाव हिंसा के संदर्भ में तन्दुल मत्स्य का उदाहरण जाता है। जैन शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि-स्वयम्भूरमण समुद्र में हजार-हजार योजन के महामत्स्य होते हैं। जब वे सोते हैं तब उनका मुँह खुला रहता है। उस समय जब वे श्वास लेते हैं तो हजारों मछलियाँ उनके पेट में श्वास के साथ खींची चली आती है और जब श्वास छोड़ते हैं तब बाहर निकल जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक श्वास में हजारों मछलियाँ भीतर-बाहर आती-जाती रहती है। ऐसे महामत्स्य के कान में एक तन्दुल मत्स्य रहता है। उसकी आकृति चावल के दाने के बराबर होती है। जब महामत्स्य के मुँह में आते-जाते हजारों मछलियों को वह देखता है तो मन ही मन सोचता है-''ओह! यह मच्छ बड़ा आलसी है, इसे होश नहीं है कि हजारों मछलियाँ आयी और यूँ ही निकल गई। क्याँ करूँ मुझे ऐसा शरीर नहीं मिला? यदि इसकी जगह मैं होता तो एक को भी जीवित न बचने देता।''

बस, इसी दुर्भावना के कारण वह सातवें नरक की आयु का बँध कर लेता है। यद्यपि तन्दुल मत्स्य ने एक भी मछली को नहीं मारा, रक्त की एक बूँद भी उसके द्वारा नहीं बहीं, पर अपनी दुर्भावना और दुष्ट संकल्प के कारण से दुर्गति का पात्र बनना पड़ा।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि हिंसा और अहिंसा हमारे भावों पर निर्भर है। द्रव्य हिंसा ही हिंसा नहीं, वस्तुत: भाव हिंसा ही वास्तविक हिंसा है। आशय यह है कि किसी को कष्ट पहुँचाने या घात होने पर भी कोई व्यक्ति तब तक हिंसक नहीं कहा जा सकता, जब तक कि उसका वैसा अभिप्राय नहीं हो अथवा असावधानी न हो। इसके विपरीत यदि किसी का अभिप्राय किसी के घात का हो तथा बहुत कोशिश करने पर भी वह उसका कुछ अनिष्ट न कर सका हो तो भी वह जीव हिंसक ही माना जायेगा। दूसरों का अहित चाहने वाला सबसे पहले अपना अहित करता है। कहा भी हैं-

स्वयमेवात्मात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः॥

दियासलाई को देखिये वह रगड़ खाती है, और जल उठती है, उसका काम

है- जलना और जलाना। परन्तु घास-पूस को वह बाद में जलाती है, पहले उसे स्वयं जलना पड़ता है। यह भी कोई जरूरी नहीं है कि जिसे वह जला रही हो वह जल ही जाए, ईंधन के गीले होने अथवा हवा का तेज झोंका आने के कारण वह बीच में ही बुझ सकती है, पर खुद तो जलती ही है।

द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा की चार सम्भावनाएँ बनती है-

(1.) द्रव्य से हिंसा हो, भाव से नहीं।
(2.) द्रव्य से भी हिंसा हो, भाव से भी।
(3.) भाव हिंसा हो, द्रव्य हिंसा नहीं॥
(4.) न द्रव्य हिंसा हो, न भाव हिंसा हो॥

उक्त चारों भंग हिंसा के प्रति जुड़े हुए हमारे भावों से सम्बद्ध हैं। हिंसा होना और हिंसा न करना इन दोनों में महान् अन्तर है, इसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है-डॉक्टर ने एक मरीज का ऑपरेशन किया, अपनी तरफ से पूर्ण तत्परता और सावधानी बरती, फिर भी मरीज बच न सका, ऑपरेशन फेल हो गया। यहाँ डॉक्टर को कोई दोषी नहीं कहेगा; क्योंकि उसने तो रोगी को बचाने की अपनी तरफ से पूरी कोशिश की। यहाँ द्रव्य हिंसा तो हुई है, पर भाव हिंसा नहीं है। यहाँ हिंसा हुई है, हिंसा की नहीं।

दूसरा उदाहरण-धन का लोभी डॉक्टर जिसे मालूम है कि रोगी के पास बहुत धन है, धन पाने की लालसा से रोगी का ऑपरेशन किया और जानबूझकर असावधानी कर दी। रोगी मर गया। यहाँ द्रव्य हिंसा भी हुई और भाव हिंसा भी। यहाँ डॉक्टर ने रोगी की हिंसा की है, हुई नहीं।

तीसरा उदारहण- डॉक्टर ने देखा, रोगी अपने साथ काफी पैसा रखे है, उसे कोई सम्हालने वाला नहीं हैं, डॉक्टर ने रोगी से कहा, कि तुम्हारा रोग दु:साध्य है, इलाज कर रहा हूँ, भगवान् करेगा तो ठीक हो जाओगे, इलाज करते-करते डॉक्टर के मन में लोभ जगा, एक दिन उसने रोगी को दवाई के साथ जहर पिला दिया। भाग्यवश वह जहर ही उसके लिए अमृत बन गया। कहावत है- **''विषस्य विष औषधम्''** विष के निवारण हेतु विषमय औषध होता है। रोगी एकदम स्वास्थ हो गया। रोग नष्ट हो जाने पर रोगी और उसके रिश्तेदारों ने डॉक्टर को बहुत धन्यवाद दिया। डॉक्टर ने तो कोशिश की थी, रोगी को मारने की, पर उसका मनोरथ पूरा नहीं हो सका। वह मन से रोगी की हत्या कर चुका था। यह तो रोगी का प्रबल पुण्य था,

कि वह जिंदा रह गया। इस उदाहरण में डॉक्टर ने जानबूझकर हिंसा करने की चेष्टा की है। अत: वह हिंसा करने का अपराधी हो चुका है। यहाँ भाव हिंसा तो है, पर द्रव्य हिंसा नहीं।

चौथे भंग में न भाव हिंसा है, न ही द्रव्य हिंसा। यह भंग पूर्णत: हिंसा से शून्य हैं। यहाँ हिंसा को किसी रूप में भी स्थान नहीं।

अहिंसा का व्यावहारिक रूप से पालन हो सके, इसलिए हिंसाके चार भेद किये गये हैं- (1) संकल्पी हिंसा (2) आरम्भी हिंसा (3) औद्योगिक हिंसा (4) विरोधी हिंसा।

(1) **संकल्पी हिंसा**-संकल्पपूर्वक किसी जीव का घातकरना अथवा उसे कष्ट पहुँचाना संकल्पी हिंसा का परिणाम है। आतंकवादी, जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक दंगों एवं अपने मनोरंजन अथवा माँसाहार के लिए शिकार आदि करना या कराना इसी संकल्पी हिंसा की पर्याय है। इसके अतिरिक्त, धर्म के नाम पर की जाने वाली पशुओं की बलि भी इसी संकल्पी हिंसा की कोटि में आती है।

(2) **आरम्भी हिंसा**-घरेलू काम-काजों में दैनिक कार्यों के निमित्त से जो हिंसा होती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है। इसके अन्तर्गत भोजन बनाना, झाड़ना-बुहारना, नहाना-धोना आदि क्रियाएँ आती है।

(3) **औद्योगिक हिंसा**-गृहस्थ को अपने जीवन निर्वाह के लिए अर्थोपार्जन अनिवार्य है। खेती-बाड़ी, नौकरी, व्यवसाय अथवा उद्योग आदि करना पड़ते हैं। इसमें होने वाली हिंसा, औद्योगिक हिंसा कहलाती है।

(4) **विरोधी हिंसा**-अपने तथा अपने कुटुम्बियों के जान-माल की रक्षा के लिए अथवा धर्म, धर्मायतन, तीर्थ मन्दिर एवं सन्तों पर आने वाली बाधाओं के निराकरण के लिए तथा अपने राष्ट्र के अस्तित्व की रक्षा करने के लिए, आतताईयों तथा आक्रमणकारियों से मुकाबला करते हुए जो हिंसा करनी पड़ती है, वह विरोधी हिंसा है।

इनमें सबसे खतरनाक/पापपूर्ण हिंसा संकल्पी हिंसा है। जिसका त्यागी होना प्रत्येक सद् गृहस्थ के लिए अनिवार्य है।

मनुष्य के जीवन में संकल्पी हिंसा अनेक रूपों से जुड़ी हुई है। मनोरंजन के नाम पर आज घोर हिंसा होती है। साँडो को लड़ाना, खरगोश की दौड़, ऊँटों की दौड़ आदि मनोरंजन के लिए किये जाने वाले इन कार्यों में घोर हिंसा होती है। अरब

देशों में ऊँटों की दौड़ होती है। लोग उनकी पीठ पर बच्चों को बाँध देते हैं। ऊँटों की दौड़ से बच्चे घबराकर चीखते हैं, ऊँट उतनी ही तेजी से दौड़ते हैं। दर्शक आनन्दित होते हैं और बच्चे लहूलुहान हो जाते हैं। इस प्रकार के खेल अत्यन्त क्रूर और अमानवीय हैं। इनमें स्पष्टतया संकल्पी हिंसा हैं। हमें इनसे बचाना चाहिए।

आज संकल्पी हिंसा का एक रूप घर बैठे हो रहा है। एक साथ करोड़ों लोग उस हिंसा में सहभागी हो जाते है। टी.वी. पर एक दृश्य चल रहा है। एक खलनायक किसी नायिका को छेड़ रहा है और नायक या लोगों का समूह उस खलनायक को पीट रहा है। उसे देखकर आपके मन में विचार आ रहा है। 'मारो उसे' बस भाव से आप हिंसा के भागी बन गए।

हिंसक दृश्यों को देखने से, हिंसात्मक भाव आये बिना नहीं रहते। मनुष्य जैसे दृश्यों को देखता है, उसके साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। उसकी भावदशा वैसी हो जाती है। वह उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। परिणामत: ऐसे दृश्यों को देखकर वह हिंसा किये बिना ही पाप का भागी बन जाता है। इस संबंध में आटे के मुर्गे की कथा प्रसिद्ध है। जिसमें मुर्गे को मारने मात्र के संकल्प से उसे दुर्गति का पात्र बनना पड़ा। अत: उस प्रकार के मनोरंजन के साधनों से बचना चाहिए, जिसमें संकल्पी हिंसा की संभावना होती हो।

सौन्दर्य प्रसाधन आदि के नाम पर भी संकल्पी हिंसा होती है। आप भले ही प्रत्यक्ष रूप से हिंसा नहीं कर रहे हैं पर हिंसाजन्य उत्पादों का प्रयोग कर रहे हैं, तो आप हिंसा के दोषी हैं। विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधन की सामग्री, जिनका आज बहुलता से प्रयोग होता है, जीवों की हिंसा से तैयार होती है। हमें इनके प्रयोग से बचना चाहिए। मुनष्य ऊपर से टिप-टॉप रहकर अपने आपको श्रेष्ठ दिखाना चाहता है, पर मनुष्य की महानता उसके बाहरी राग-रंग से नहीं, चारित्रिक गुणों से है। सौन्दर्य प्रसाधनों के हिंसाजन्य पदार्थों से आप अपनी काया को सजा सकते हैं, पर आपकी आत्मा उससे विकृत हुए बिना नहीं रहेगी।

आत्मा की विकृति के मूल्य पर बाह्य श्रृंगार सदैव अभिशाप है। किसी का संहार करके यदि स्वयं का श्रृंगार कर लिया तो इससे बड़ी कुरूपता फिर और क्या होगी? सन्त कहते हैं, शरीर का नहीं, आत्मा का श्रृंगार करों। एक बार आत्मा का श्रृंगार कर लिया, तो फिर अन्य किसी श्रृंगार की आवश्यकता नहीं होगी।

इसी प्रकार चर्म निर्मित सामग्री का प्रयोग, चमड़े के जूते, चप्पल, बेल्ट,

ब्रीफकेस, पर्स, ठंड के मौसम में पहनने वाले जैकिट आदि का उपयोग भी संकल्पी हिंसा की पर्याय है। इनके उत्पादन की प्रक्रिया अत्यन्त क्रूर है। पशुओं की खाल कोमल बनी रहे, वह आपको आराम दे सके, इसलिए जीवित पशुओं पर उबलता हुआ पानी डालकर उनकी खाल निर्ममता पूर्वक उधेड़ ली जाती है। जूते, फर के कोट आदि के निर्माण के लिए तो गर्भवती गायों और भेड़ों को मारकर उनके गर्भस्थ बच्चों की खाल भी खींच ली जाती है। उसके उत्पादन की प्रक्रिया इतनी क्रूर है कि एक बार क्रूरता भी स्वयं पसीज जाए, पर मनुष्य का मन नहीं पसीज पाता। इसी प्रकार रेशम और कोशे के वस्त्रों का प्रयोग भी हिंसक है। वस्तुत: वह वस्त्र नहीं जीवों का कलेवर है। एक साड़ी या कुर्ते के उत्पादन में हजारों कीड़ों की बलि होती है। आज हमें सोचने और विचारने की जरूरत है। क्या हम इनके प्रयोग के बिना नहीं रह सकते?

यदि एक बार मन में करुणा जाग जाए, अहिंसा के प्रति आस्था जग जाए, तो फिर आप इनका प्रयोग नहीं कर सकते।

देश में एक मेनका गाँधी जैसी महिला है जिसने जैन कुल में जन्म नहीं लिया लेकिन वह किसी भी प्रकार का सौन्दर्य प्रसाधन और हिंसक उत्पादों का प्रयोग नहीं करती। टी.वी. पर आपने देखो होगा, कितनी सिम्पल रहती है, जीवों की रक्षा के लिए वह बड़ा कार्य कर रही है। जो कभी मांसाहारी थी, अब पूर्ण शाकाहारी हो गयी है। वह इस बात की एक उत्कृष्ट उदाहरण बन गयी है। यह सब संवेदनशीलता के जागरण का परिणाम है। अत: अपनी संवेदना को जगाये और जिसमें हिंसा की संभावना हो, उन वस्तुओं के प्रयोग से बचें।

इसी प्रकार मांसाहार, डाका, हत्या, दंगा, फसाद आदि में होने वाली हिंसा भी इसी संकल्पी हिंसा की पर्याय है। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा, पशुबलि आदि, सब इसी की श्रेणी में आती है। हमें उनका परित्याग करना चाहिए।

साधारण गृहस्थी से मात्र संकल्पी हिंसा का ही त्याग कराया जाता है। इसके अतिरिक्त आरम्भी, औद्योगिक और विरोधी हिंसा में उसे यत्नाचार और विवेक से प्रवृत्ति करने का उपदेश दिया गया है।

अत: कम से कम संकल्पी हिंसा का तो परित्याग करें ही।

आज की गयी हिंसा का प्रतिफल तुम्हें कल भोगना ही पड़ेगा। हिंसा और प्रतिहिंसा का दौर एक लम्बे समय तक चलता है। जो बलिष्ठ है, वह दूसरों की

हिंसा करता है। कालान्तर में जिसकी हिंसा की जाती है, वह बलिष्ठ होकर जन्मता है और वह उसकी हिंसा करता है।

सदन नाम का एक कसाई था। वह राजा के यहाँ मांसाहार तैयार कर रोज परोसा करता था। रोज एक बकरे का वध करता था। एक दिन राजा के शाही भोज में बहुत कम लोग थे। सदन के मन में आया–आज पूरा बकरा क्यों काटा जाये? आज तो थोड़ा सा माँस निकालकर काम चला लिया जाये, बाकी अगले दिन काट लिया जायेगा। थोड़ा सा मांस निकालने की भावना से जब सदन बकरे के पास पहुंचा तो उसे ऐसा लगा जैसे बकरा आज हँस रहा है। सदन ने बकरे से पूछा– 'तू आज क्यों हँस रहा है?'

बकरे ने कहा– ''शायद तुम मुझे नहीं पहिचानते हो पर मैं तुम्हें अच्छी तरह से जानता हूँ। हमारा तुम्हारा संबंध आज का नहीं बहुत पुराना है। जब–जब मैं बकरा बना हूँ तुमने मुझे काटा है और जब–जब तुम बकरा बने हो, मैंने तुम्हें काटा है। यह घात–प्रतिघात का दौर बहुत समय से चला आ रहा है। लेकिन आज तुम्हारे मन में थोड़ा सा परिवर्तन आ गया है। आज तुम मुझे पूरी तरह मारने की बजाय, थोड़ा सा माँस लेने का मन बनाकर आये हो। जब मेरा नम्बर आयेगा तो मैं इससे भी कम माँस निकालूँगा।''

इतना सुनना था कि सदन कसाई के हाथ की छूरी एक तरफ जा गिरी। उसे आत्म बोध हो गया कि आखिर इस हिंसा का परिणाम क्या होता है?

इस रहस्य को समझें। हिंसा के प्रति मन में भीति होना चाहिए। जिस क्षण से अहिंसा के प्रति आस्था जम जायेगी, फिर आपको किसी नियम/संयम देने की जरूरत नहीं पड़ेगी। आपको भीतर से संयम उद्घाटित होने लगेगा। जब तक आस्था नहीं होगी, घण्टों उपदेश देते रहो कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। अत: अपनी आस्था को गहरी बनाने की जरूरत है।

★ ★ ★

आग्रह छोड़ें, अपेक्षा जोड़ें

एक युवक शहर से अपने गाँव की ओर जा रहा था। बीच में जंगल का रास्ता था। निर्जन जंगल में, संघर्षण की तेज आवाज सुनाई पड़ी। रुककर देखा कि वह आवाज बढ़ती जा रही है। बाँस का सघन जंगल था। बाँस एक दूसरे से टकराकर संघर्षण पैदा कर रहे थे। देखते आग की चिन्गारियाँ उत्पन्न हुई और सूखे बाँसों के पत्तों में आग फैलकर-व्यापक बन गयी।

घर्षण का परिणाम आग है।

गाँव की सीमा के निकट पहुँचा। पुन: कानों में एक आवाज सुनाई दी। देखा एक घर की दहलान में महिला मथानी से दही का मंथन कर रही है। वह मंथन की आवाज थी जो नवनीत पैदा कर रही थी।

''संघर्षण में आग है और मंथन में नवनीत है'' एक जीवन का रहस्य इन दो घटनाओं से प्राप्त हुआ। जब दो अपनी जगह पर अड़े, खड़े रहकर टकराते हैं तो आग पैदा करते हैं। लेकिन मंथन में हाथों में थामी हुई रस्सी को, एक हाथ ढ़ील देता है तो दूसरा हाथ उसे खींचता है। फिर दूसरा हाथ ढीला करता है तो पहला हाथ उस रस्सी को खींचता है। उसमें परस्पर विरोध में भी समन्वय है।

भगवान् महावीर का तत्व-दर्शन इसी समन्वय की भूमि पर खड़ा है जो 'अनेकान्त' के नाम से जाना जाता है। यदि जीवन को सन्तुलित, सुखी और व्यवस्थित तरीके से जीना चाहते हो तो 'अनेकान्तात्मक' दृष्टिकोण अपनाना होगा।

'अनेकान्त' क्या है ?

भगवान् महावीर कहते हैं-सम्यग्ज्ञान अनेकान्त है। जिसकी सोच/चिन्तन-व्यापक है, जो अनेक पक्षों और अपेक्षाओं को लेकर चलता है, वह अनेकान्ती है। अपने एकान्त या हठाग्रह में जीने वाला सम्यग्ज्ञानी नहीं है। न वह धर्मात्मा है और न ही मोक्षमार्गी।

भगवान् महावीर ने कहा- जो कुछ तुम्हें दिखाई पड़ता है वस्तु वैसी ही नहीं है। वह अनन्त दृष्टि से देखी जाने लायक है। हर वस्तु में अनेक विरोधी गुण-धर्म मौजूद हैं। केवल हम उसका एक रूप ही देखते हैं लेकिन उसका दूसरा रूप हमें उस समय दिखाई नहीं पड़ता है। भले दिखाई न दे, परन्तु उसके अस्तित्व को नाकारा नहीं जा सकता। अनेकान्त केवल सिद्धान्त मात्र न होकर, सत्य को देखने और समझने की एक पद्धति विशेष है।

अभी मैने कहा कि सम्यग्ज्ञान अनेकान्त है। सम्यग्ज्ञान क्या है? जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी जानना। वस्तु का जैसा स्वरूप हमें दिखता है वह उतनी ही नहीं है, अपितु वह अनन्त दृष्टियों से देखे जाने के योग्य है। प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी अनन्त धर्म युगलों का पिण्ड है। वह नित्य भी है, अनित्य भी, एक भी है अनेक भी है। हम साधारण दृष्टि से उसका समग्र बोध नहीं कर सकते। वस्तु के समग्र बोध के लिए हमें समग्र दृष्टि की आवश्यकता है। इसी समग्र दृष्टि का नाम है- 'अनेकान्त'

एक ही वस्तु परस्पर विरोधी कैसे हो सकती है? साधारण व्यक्ति को यह बात समझ में नहीं आती। वस्तुत: विरोध वस्तु में नहीं, वस्तु को देखने वाली दृष्टि में है। वस्तु तो परस्पर विरोधी अनन्त गुणधर्मों का अविरोधी आश्रय स्थल है।

एक गिलास आधा भरा है, उसी समय वह आधा खाली भी है। खालीपन और भरापन दोनों परस्पर विरोधी हैं, पर गिलास में दोनों अविरोधी रूप से आश्रय पा रहे हैं। उसे समझने के लिए हमें अपेक्षा लगानी होगी। लोक-व्यवहार में हम इस अपेक्षा के विज्ञान का प्रयोग करते रहते हैं। एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, वही अपने पुत्र की अपेक्षा पिता भी है। पुत्रपना और पितापना दोनों परस्पर विरोधी हैं, लेकिन दोनों धर्म वहाँ एक साथ मौजूद हैं, जिनकी अभिव्यक्ति पिता और पुत्र की अपेक्षा से होती है। कोई भी बेटा अपने दादाजी से इस बात के लिए नहीं झगड़ता कि आप मेरे पिता को पुत्र क्यों कह रहे हो? जो अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, वही अपने पुत्र की अपेक्षा पिता भी है।

संसार की प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त है। उदाहरण के लिए हम जल को लें। जल हमारे जीवन का आधार है, वहीं जल पानी में तैरते समय गुटका लग जाने पर जान लेवा भी हो जाता है।विष प्राण-नाशक है, कभी-कभी वही विष औषधि के रूप में भी प्रयुक्त होता है। आज के वैज्ञानिक युग में यह कहने की जरूरत नहीं है, एक ही परमाणु में जहाँ आकर्षण-शक्ति काम कर रही है, वहीं विकर्षण-शक्ति भी अपना स्थान बनाए है। उसमें जहाँ सृजनकारी-शक्ति है तो संहारक-शक्ति भी अपना अस्तित्व बनाए है।

शिक्षक ने बोर्ड पर लकीर खींची और छात्रों से कहा- ''इस लकीर को बिना मिटाये छोटी करो। सभी छात्र अचरज में पड़ गये पर एक बुद्धिमान छात्र उठा और लकीर के ऊपर एक बड़ी लकीर खींच दिया। लकीर अपने आप छोटी हो गई। शिक्षक ने पुनः कहा-अब इस लकीर को पुनः बड़ी करो, पर शर्त है- चौक का प्रयोग नहीं हो।'' वही छात्र फिर उठा और उस लकीर के नीचे उसने एक छोटी लकीर खींच दी। वह लकीर पुनः बड़ी दिखने लगी।

एक लकीर किसी की अपेक्षा से बड़ी है, तो वही छोटी भी है। अपेक्षा के इसी शब्द विज्ञान से अनेकानत का जन्म हुआ है। भगवान् महावीर कहते हैं कि वस्तु की व्यापकता को समझो, विभिन्न अपेक्षाओं को समझो, मात्र अपनी बात का आग्रह मत रखों, दूसरों की अपेक्षा का भी ध्यान रखो। आग्रह छोड़ो, अपेक्षा जोड़ो, जिसे तुम सत्य मान रहे हो, वह असत्य भी हो सकता है। अतः अपनी ही बात का आग्रह मत रखो। सामने वाले के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। यह दृष्टि तुम में वैचारिक सहिष्णुता को जन्म देगी।

एक बार एक व्यक्ति ने विनोबा जी से कहा- ''बाबा मैं जो कहता हूँ, बिल्कुल सत्य कहता हूँ।'' विनोबा जी ने उससे प्रति-प्रश्न करते हुए पूछा कि क्या तुम यह बात पक्के तौर पर कहते हो कि जो तुम कहते हो वही सही होता है? उस व्यक्ति ने कहा-''हाँ मेरी यही धारणा है।'' विनोबा जी ने उसे समझाने के लिए पूछा- ''अच्छा यह बताओं हिमालय किधर है?''

उसने जबाव दिया-''उत्तर में''

''यही प्रश्न किसी चीन के व्यक्ति से पूछा जाए तो क्या जबाब होगा?''

विनोबा जी ने पुनः पूछा।

उसने जबाब दिया-''दक्षिण में।''

विनाबा जी ने उसे समझाते हुए कहा कि देखो कभी भी अपनी ही बात का आग्रह रखना उचित नहीं। हमें सामने वाले की बात भी सुननी चाहिए। अपनी जगह हम सही हो सकते हैं पर दूसरे की जगह गलत भी हो सकते हैं। हिमालय हमारी अपेक्षा उत्तर में है पर चीनी व्यक्ति अपेक्षा तो दक्षिण में ही होगा। यही अपेक्षा का सिद्धान्त है।

अनेकान्त हमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का एक मौका देता है और आपेक्षिक सत्य के रूप में स्वीकार करने की सहिष्णुता उदारता हमारे अन्दर उत्पन्न करता है।

वस्तुतः संघर्ष का कारण-आग्रह या हठधर्मिता है। आग्रह सदैव स्वार्थ को देखता है। वह सत् असत् या हेय-उपादेय को नहीं देखता। जहाँ आग्रह है वहाँ अविवेक आकर विराजमान हो जाता है। 'महाभारत' का युद्ध अविवेक का संग्राम था, जो आग्रह की भूमि पर लड़ा गया था।

आज विवाद की जड़ वस्तुएँ नहीं हैं। विवाद है-विचारों के कारण देखने वाले की दृष्टि के कारण विवाद है। हमें जो दिख रहा है, वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है, हाँ उस सत्य का एक भाग या अंश हो सकता है।

अनेकान्त का अर्थ है- जीवन के सभी पहलुओं की एक साथ स्वीकृति। अनुभव के अनन्त कोण होते हैं। और प्रत्येक कोण पर खड़ा आदमी सही है, लेकिन भूल वहीं हो जाती है, जब वह अपने कोण को ही सर्वग्राही बनाना चाहता है।

वस्तुतः हमारा अहंकार हमें तोड़ता है। अहंकार समस्याएँ पैदा करता है। परन्तु अनेकान्त सह-अस्तित्व की वकालत कर समस्याओं को दूर करता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि मनुष्य अनेक सम्भावनाओं का पुँज है। मनुष्य क्या हर वस्तु में अनेक गुणों के अस्तित्व की सम्भावनाएँ भरी पड़ीं हैं। हर वस्तु परस्पर विरोधी अनन्त धर्म युगल से संयुक्त है। परन्तु उसे समझने के लिए एक समग्र दृष्टि चाहिए। हमारी दृष्टि में समग्रता आयेगी तो वस्तु को हम समग्रता से समझ सकेंगे।

अनेकान्त की सोच लेकर जीने वाला व्यक्ति, ''खरा सो मेरा'' के आदर्श को अपनाता है। ''मेरा सो खरा'' के भ्रम में वह कभी नहीं पड़ता। हमें अपने साथ दूसरों की दृष्टि का भी समादर करना चाहिए। किसी वस्तु के एक पहलू को देखकर उसे मुख्य मान सकते हो, परन्तु उसके दूसरे पहलू को अनदेखा करके नगण्य नहीं मान सकते हैं। हाँ उस समय वह अनदिखा पहलू–गौण हो सकता है।

कहते हैं–विवेकानन्द जब अमेरिका गये और अपना पहला भाषण दिया तो कुछ लोगों ने उनके भाषण को जब गंभीरता से नहीं लिया तब उन्होंने कहा कि **"fifty Percent Americans are fools"** कोई भरी सभा में यह कह दे कि पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख हैं, तो प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। सभा में खलबली मच गयी। उत्तेजना का वातावरण देखकर विवेकानन्द जी ने तुरन्त दूसरा पक्ष लेकर कहा–

"I rcetify my statement, that fifty Precent Amricans are wise" मैं अपने वक्तव्य को संशोधित कर पुन: कहना चाहूँगा कि पचास प्रतिशत अमेरिकन बुद्धिमान् हैं। इससे वातावरण बदल गया। सभा में शान्ति हो गयी।

कहने का दृष्टिकोण ही था। वस्तु अपनी जगह यथावत् है। वस्तु के विभिन्न पक्षों को समझकर अपने आपको आग्रह मुक्त चिन्तक बनाने की जरूरत है।

दैनिक गृहस्थ–जीवन में, भाई–भाई, पिता–पुत्र, सास–बहु या देवरानी–जिठानियों में प्राय: लड़ाई झगड़ा या तूँ–तूँ मैं–मैं, हो जाती है। इस लड़ाई का कारण क्या है? कलह का मूल कारण आग्रह है। आग्रह का उपसंहार हमेशा कलह में होता है। यदि आग्रह को टालने की कोशिश करें तो अपने आप परिवार में एक परिवर्तन आ जावेगा।

आचार्य श्री कहा करते है कि अनेकान्त 'भी' का प्रतीक है और एकान्त या आग्रह– 'ही' का प्रतीक है। 'भी' में अपेक्षा है। जहाँ अपनी बात के साथ–साथ सामने वाले की बात को सुनने की गुँजाइश होती है, वहाँ कलह और कलुषता के अलावा कुछ नहीं है। हमें 'ही' से 'भी' की ओर बढ़ना श्रेयस्कर है। जहाँ दूसरों के साथ समन्वय का मार्ग नहीं, दूसरों की विवक्षा को समझने का भाव नहीं, वहाँ आग्रह है और वहीं से झगड़े का जन्म है।

एक नव दम्पत्ति की घटना है। दोनों पति–पत्नी जब रात्रि में फुरसत में बैठे थे, तो भावी संतान को क्या बनायेंगे इस पर बहस छिड़ गयी। पति ने कहा– मैं बेटे को वैज्ञानिक बनाऊँगा। पत्नी बोली–नहीं, मैं अपने बेटे को डॉक्टर बनाऊँगी। पति ने विरोध दर्ज करते हुए कहा–वैज्ञानिक का नाम पूरे देश में होता है, डॉक्टर तो अब गली गली में घूमने लगे हैं। पत्नी ने साधिकार कहा–मैंने डॉक्टर बनाने की बात न जाने कब से सोच रखी है? जो मैं नहीं बन पायी, अपने बेटे में साकार देखना चाहती हूँ। आखिर बहस का सिलसिला बढ़ता गया और आवेश में परिवर्तित हो गया। बात कोर्ट–कचहरी तक पहुँच गयी और दोनों 'डायबोर्स' लेने के लिए तैयार हो गये।

जब जज ने डायबोर्स का कारण जानना चाहा तो दोनों ने अपनी अपनी दलीलें प्रस्तुत कीं। जज समझदार था। उसने कहा– ''पहले उस बेटे से ही पूछ लिया जाये कि वह आखिर क्या बनना चाहता है? बेटे को बुलाया जाये''–जज का आदेश हुआ।

दोनों एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। बेटा तो अभी पैदा ही नहीं हुआ है। पूछें तो किससे पूछें? दोनों के बीच तनाव है।

ऐसे झगड़े पैदा होते हैं जो आग्रह और अहंकार के कारण हैं। पिता–पुत्र में तकरार क्यों?

नई पीढ़ी नई सोच के साथ जीना चाहती है और पुरानी पीढ़ी पुरानी सोच को लिये होती है। पिता अपने विचारों को पुत्र पर थोपना चाहता है। दोनों के बीच समन्वय नहीं है। बेटा–पढ़ा लिखा है। उसमें नया कुछ करने का जोश और उत्साह है। पिता नये के प्रति आशंकित है। नयी पीढ़ी में पुरानी पीढ़ी के लिए उपेक्षा का भाव है तो पुरानी पीढ़ी में नयी पीढ़ी के प्रति वात्सल्य का भाव नहीं है। अत: दोनों के बीच तनाव है। यद्यपि बेटे को यह मानना चाहिए कि अनुभव, ज्ञान से ज्यादा कीमती होता है। ज्ञान पुस्तक से मिलता है और अनुभव जीवन से। याद रखें किसी वृद्ध को बूढ़ा जानकर मत छोड़ देना। उसकी एक–एक झुर्री में अनुभव के मोती झाँकते हैं।

सिर्फ मकान की ऊँचाई को न देखें, उसकी नींव की गहराई को भी देखने की कोशिश करें। आज का खड़ा महल–कल किये गये श्रम पर टिका है। हर पीढ़ी के बीच एक समन्वय का रास्ता हो। नई और पुरानी पीढ़ी में कुछ ऐसी स्थिति बनती है

कि एक को 'किस्ती' नहीं मिलती और दूसरे को 'साहिल' नहीं मिलता। दोनों अपूर्ण हैं। यहाँ अनेकान्तात्मक सोच की आवश्यकता है। उसका विकास किया जाना चाहिए।

एक बार ऐसा हुआ कि पति-पत्नी के बीच कुछ अनबन हो गयी। अक्सर ऐसा होता है कि जब पत्नी नाराज हो जाती है तो एक धौंस, एक धमकी देने लगती है कि ज्यादा करों तो मैं मायके चली जाऊँगी। उसने भी यही बात कह डाली।

पति समझदार था। मामले की नाजुकता देखकर उसने तत्काल अपने को संयमित किया और कहने लगा- ''तुमने इस बार अच्छा निर्णय लिया। तुम मायके हो आओ। पप्पू भी कुछ दिन के लिए अपने ननिहाल हो आयेगा और इसी बहाने मैं भी कुछ दिन ससुराल घूम आऊँगा।'' बस क्या था-मामला ठण्डा पड़ गया। अगर उसी समय वह तन गया होता तो स्थिति ज्यादा बिगड़ सकती थी। वास्तविकता को समझकर ही हमें अपने आप को बदल लेना चाहिए।

विपरीत परिस्थितियों में मनुष्य घबड़ा उठता है, तनाव ग्रस्त हो जाता है। उस समय धैर्य और संयम से काम लेना चाहिए; क्योंकि परिस्थितियों को तो बदला नहीं जा सकता, हाँ अपने दृष्टिकोणको उसके अनुसार अवश्य बदला जा सकता है।

एक बार पण्डित जगनमोहनलाल जी कटनी वालों ने एक घटना सुनाई। घटना उस समय की है जब देश में साम्प्रदायिकता की भावना चरम पर थी। घटना-रीवा (म.प्र.) की है। साम्प्रदायिकता में अन्धे लोग जैन तीर्थंकर के विमान को निकालने का विरोध किया करते थे। एक बार सम्पूर्ण जैन समाज ने श्री महावीर जयन्ती पर सामूहिक रूप से विमानोत्सव मनाने का निर्णय लिया। रीवा-नरेश ने भी अनुमति दे दी। लेकिन विरोधी लोगों ने राजाज्ञा का विरोध न कर पाने पर निर्णय लिया कि उसके विरोध में हम सभी अपनी दुकानें बन्द रखेंगे।

भगवान् महावीर का विमान निकला लेकिन पूरा बाजार बन्द था। स्थिति विपरीत थी। एक विद्वान् की हैसियत से पं. जगनमोहनलाल जी आमंत्रित थे। जब वे भाषण देने को खड़े हुए तो उन्होंने भगवान् महावीर के अनेकान्तमय दृष्टिकोण की व्याख्या शुरू की और भाषण के समय कुछ इस तरीके से बात शुरू की कि- आज भगवान् महावीर की जयन्ती तो सारे देश में मनायी जाती है और सिर्फ जैन लोग अपने प्रतिष्ठान बन्द करके उसे धूमधाम से मनाते हैं। लेकिन यह देश का पहला शहर है जहाँ भगवान् महावीर की जयन्ती में रीवा के जैन अजैन सभी सम्मिलित हो गये और सभी ने अपनी दुकानें और प्रतिष्ठान बन्द कर लिए हैं। लोगों ने सोचा-अरे! इन्होंने तो इसे उल्टा ही ले लिया। सबने अपनी दुकानें फटाफट खोल लीं। बात बन गई। स्थिति विपरीत होने पर, परिस्थिति के प्रति अपना दृष्टिकोण बदला जा सकता है। जीवन हमारे नजरिये पर निर्भर करता है। जिसने अपने नजरिये को बदलने की कला सीख ली, वह सबसे ज्यादा सुखी रहता है।

अनेकान्तमय जीवन जीने का मतलब है- समता मूलक जीवन जीना। वैचारिक सहिष्णुता के साथ जीना। आज हमारे अन्दर, वैचारिक सहिष्णुता खत्म होती जा रही है। हम अपनी बात को मनवाने के लिए उद्यत रहते हैं। दूसरे सामने वाले की बात को अनदेखा करने की कोशिश करते हैं।

अनेकान्त यह नहीं कहता कि हर किसी की बात को मानकर कहीं स्थिर ही न रहो। अनेकान्त अनिर्णय नहीं है। अनेकान्त है-वस्तु का सम्यक बोध। वस्तु का समग्र ज्ञान। परिपूर्ण सम्यक् ज्ञान अनेकान्त है। अनेकान्त-प्रत्येक की दृष्टि का मूल्यांकन करता है।

अनेकान्त का लक्ष्य है। मानसिक अहिंसा को प्रतिष्ठित करना। वैचारिक सहिष्णुता का विकास करना।

मेरे स्मरण में रामायण पर आधारित एक घटना आ रही है जो इस तथ्य को उजागर करती है कि एक व्यक्ति का दृष्टिकोण क्या से क्या करा देता है?

राम-रावण का युद्ध समाप्त हो चुका था। श्रीराम के दरबार में साधुवाद समारोह चल रहा था। सभी एक दूसरे को बधाई दे रहे थे और रणबाँकुरे-परस्पर रण-पौरुष और पराक्रम का बखान कर रहे थे। हनुमान जी का नम्बर आया। वे भी अपने संस्मरण सुना रहे थे। एक, एक चीज का सजीव चित्रण कर रहे थे। जब अशोक वाटिका का प्रसंग आया तो हनुमान जी एकदम लाल हो गये। बोले-अशोक वाटिका बहुत सुन्दर थी, जिसे मैंने तहस-नहस कर दिया। उस वाटिका की एक विशेषता थी कि उसमें जितने फूल थे, सभी ही लाल रंग के थे।

सीता जी वहीं पास बैठीं थी। उन्होंने हनुमान जी को टोकते हुए कहा- ''क्या कह रहे हो? वहाँ लाल रंग का एक भी फूल नहीं था। सारे फूल सफेद ही सफेद थे। तुम तो थोड़ी देर क लिए अशोक वाटिका में गये थे, मैं तो लम्बे समय तक वहाँ रही।'' हनुमान जी कहते है- ''माताजी!'' मुझसे भूल नहीं हो सकती है। मैं झूठ क्यों बोलूँ? श्री राम के सामने मिथ्या बात कैसे कर सकता हूँ? सारे फूल लाल थे। एक भी सफेद नहीं था। सीता ने पुनः मुस्कुरा कर कहा- ''नहीं!''

दोनों के परस्पर कथनों को सुनकर रामजी को हस्तक्षेप करना पड़ा। उन्होंने दोनों के कथनों को सापेक्षता और अनेकान्त दर्शन से सही बताया। प्रभु! यह कैसे हो सकता है कि हम दोनों की बात सही हो? क्या लाल सफेद हो सकता है? श्री रामचन्द्र जी ने कहा-''बात ऐसी है हनुमान! जब तुम लंका गए थे, तो गुस्से में तुम्हारी आँखें लाल थीं, इसलिए तुम्हें सारे फूल लाल ही लाल दिखाई पड़ रहे थे। लेकिन सीता वहाँ सात्विक भावों से बैठीं थीं। अतः उन्हें सारे फूल सफेद दिखाई पड़ रहे थे।'' दोनों को अपनी अपनी बात समझ में आ गई। सबकुछ हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।

व्यापक दृष्टिकोण का नाम अनेकान्त है। अनेकान्तात्मक चिन्तन से ही वर्ग संघर्ष, साम्प्रदायिक संघर्ष, पारिवारिक संघर्ष दूर किये जा सकते हैं।

अनेकान्त को शास्त्रों तक ही सीमित मत रखो। इसे जीवन के व्यवहार और सत्य-खोज की व्यावहारिक पद्धति के रूप में स्वीकारो।

अनेकान्त के व्यावहारिक-पक्ष को, अपने प्रवचन के अन्त में पुनः दुहराना चाहता हूँ और आपके मन में यह श्रद्धान दृढ़ करना चाहता हूँ कि जैनदर्शन में अनेकान्त ही ऐसा अस्त्र है जो जीवन के सभी क्षेत्रों की विषमता और विरूपताओं को समाप्त कर सकता है।

दार्शनिक विचारों ने स्याद्वाद को जन्म देकर अनेकान्त को परिपुष्ठ किया है। धार्मिक क्षेत्र में-अनेकान्त-सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता है। जैनधर्म में वीतराग साधना, बौद्धदर्शन में वीततृष्ण होना तथा वेदान्त दर्शन अहं और आसक्ति से ऊपर उठने की बात कहता है। एकान्त या आग्रह-वैचारिक राग, आसक्ति और वैचारिक तृष्णा का ही रूप है। धार्मिक साधना के क्षेत्र में-अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया है।

एकान्त या आग्रह-वैचारिक हिंसा का ही रूप है? अतः अनेकान्त की घोषणा है कि धर्म-मनुष्य को जोड़ने के लिए है। भेद की दीवार खड़ी करने के लिए नहीं। आज धार्मिक मतांधता में हिंसा, संघर्ष, छल-छद्म और अत्याचार आदि क्या नहीं हो रहा है? निश्चित रूप से अनेकान्त में इन सभी का सम्यक् समाधान है। सिर्फ अनेकान्त की आँख चाहिए।

गणतंत्र या प्रजातंत्र-राजनैतिक क्षेत्र में अनेकान्त सिद्धांत का व्यावहारिक रूप है। राजतंत्र से प्रजातंत्र की जो लम्बी यात्रा तय की गई है वह अनेकान्त और स्याद्वाद दृष्टि अपनाने में ही सार्थक है।

प्रजातंत्र में विरोधियों की आलोचना को भी सहिष्णु होकर सुना जाता है और अपने दोषों को समझना उसका लक्ष्य है। विपक्षी धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है यह राजनीति को प्रजातंत्र की ही देन है।

सामाजिक और पारिवारिक जीवन में अनेकान्त की महत्ता पर विस्तृत चर्चा की जा चुकी है।

अतः इस अंतिम बात को कहकर मैं विराम लेना चाहूँगा कि अनेकान्त को जीने की आवश्यकता है। इसके व्यावहारिक पक्ष को उपेक्षित न किया जाकर इसकी प्रयोगात्मकता के द्वारा ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के संघर्षों एवं वैचारिक विवादों का निराकरण कर सकते हैं।

अनेकान्तवाद को केवल सैद्धान्तिक रूप से जान लेना या इसकी व्याख्या कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे व्यावहारिक जीवन में जीना भी होगा और तभी उसकी वास्तविक मूल्यवत्ता को प्राप्त कर सकेंगे।

★★★

इच्छाओं का करें नियंत्रण

एक राजा अपनी जिज्ञासा लेकर सन्त-चरणों में पहुँचा। सादर अभिवादन के बाद सन्त से राजमहल में पधारने की सविनय प्रार्थना की। सन्त ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली व दूसरे ही दिन राजमहल में भिक्षा ग्रहण करने हेतु पधारे। राजा ने उनके आतिथ्य का बड़ा उत्तम प्रबंध किया था।

सन्त के आगमन से राजा का मन प्रफुल्लित हो गया। राजा ने भक्ति पूर्वक सन्त से भिक्षा ग्रहण करने का निवेदन किया। सन्त ने कहा- ''मैं मात्र अपने कटोरे भर ही भिक्षा ग्रहण करता हूँ।'' राजा ने उत्साहित होकर उनके कटोरे में खीर परोसी और अपने को धन्य माना।

परन्तु आश्चर्य! महान आश्चर्य! राजा ने पूरी की पूरी खीर उस कटोरे में उड़ेल दी, फिर भी कटोरा खाली ही रहा। कटोरा यद्यपि छोटा सा ही था। राजा ने दुबारा खीर तैयार करवाई, पुनः पुनः कटोरे में खीर भरी, परन्तु कटोरा भरा ही नहीं। राजा बेचैन हो उठा कि आज मैं अपने द्वार पर आगत अतिथि का समुचित सत्कार नहीं कर पा रहा हूँ। उसने किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो सन्त से पूछा-''हे गुरुवर! यह कटोरा कब भरेगा?''

सन्त ने मन्द मुस्कान बिखेरते हुए कहा ''राजन्! ये कटोरा कभी नहीं भरेगा।''

राजा ने सन्त से पुनः निवेदन किया कि गुरुवर! आखिर यह कटोरा क्यों नहीं भरेगा? यह किस धातु से बना है?

सन्त ने कहा-''यह कटोरा किसी धातु का नहीं, मानव के मन का कटोरा है। इस कटोरे का निर्माण मनुष्य के मन से हुआ है। धातु का कटोरा भर सकता है पर मानव मन का कटोरा कभी नहीं भर सकता।''

आज के संदर्भ में यह प्रसंग बहुत ही सार्थक और सटीक है। भगवान महावीर कहते है- मनुष्य के मन की इच्छाएँ, अनन्त हैं, वे कभी खत्म नहीं हो सकती।

जीवन सीमित है और इच्छाएँ/आकांक्षाएं और कामनाएँ अनन्त। जैसे समुद्र में उठने वाली लहरों की कोई गिनती नहीं कर सकता। एक लहर सागर में विलीन होती है और दूसरी तरंगित हो उठती है। उसकी परम्परा निरन्तर जारी रहती है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति आकाश को नापना चाहे, तो उसके लिए ऐसा कर पाना असम्भव है। क्योंकि आकाश अनन्त है, असीम है। यही स्थिति इच्छाओं की भी है। चाहे कितनी आकांक्षाओं को पूरी की जाए उनका कभी अन्त नहीं होता। एक आकांक्षा के पूर्ण होते ही दूसरी आकांक्षा जाग जाती है और उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करते-करते तीसरी आकांक्षा मानस में उभरने लगती है। आकांक्षाओं का सिलसिला अन्तहीन है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा-

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलास समा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स ण तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥

यदि मनुष्य को कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी मिल जाएँ, तब भी इच्छा का अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

जैसे आकाश का कोई ओर-छोर नहीं है, उसकी कहीं समाप्ति नहीं है। उसी प्रकार मन की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। वे अनन्त हैं। हजारपति लखपति बनने की चाह रखता है, लखपति करोड़पति बनना चाहता है और करोड़पति अरबपति बनने के सपने देखता है। मनुष्य के मन में प्रतिक्षण और-और पाने की चाह जगती रहती है। ऐसी स्थिति में विराम कहाँ? विश्राम कहाँ? मन में उत्पन्न होने वाली इच्छाएँ ही हमारी आकुलता की जननी हैं। इच्छाओं की तृप्ति का मनुष्य जितना अधिक प्रयत्न करता है, वे उतनी ही बढ़ती जाती हैं। अपने मन की इच्छाओं की पूर्ति करने में मनुष्य की जिन्दगी पूरी हो जाती है, पर इच्छाएँ अधूरी ही रहती है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा है कि-''इच्छाओं की पूर्ति, इच्छा तृप्ति का

साधन नहीं है। इच्छाओं पर नियंत्रण ही इच्छा तृप्ति का साधन है।'' इच्छाओं की पूर्ति कर इच्छाओं को तृप्त करने का प्रयास करना, आग से आग बुझाने का प्रयत्न करना है। जलती हुई अग्नि को बुझाने के लिए कोई उसमें घी डाले तो हम उसे क्या कहेंगे? अग्नि में घी डालने पर अग्नि और अधिक भड़क उठेगी। ठीक इसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति करके इच्छाओं को शान्त नहीं किया जा सकता। कहा भी है-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्ममेव भूय एवमभिवर्धते॥

''अग्नि जैसे घी से अधिक प्रज्वलित होती है, वैसे ही कामनाओं की अग्नि भी पूर्ति के प्रयत्नों से और अधिक वेगवती होकर जलती है।''

भगवान् महावीर ने इसलिए इच्छा परिमाण व्रत का उपदेश दिया है। यह अपरिग्रह की साधना का व्यावहारिक रूप है। अपरिग्रह की पूर्ण साधना साधु ही कर सकते हैं। साधारण गृहस्थ नहीं। उसे अपने जीवन निर्वाह और अपने पारिवारिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों के निर्वाह के लिए धन-वैभव आदि की आवश्यकता होती है। वह उनका परिपूर्ण त्याग नहीं कर सकता। ऐसे गृहस्थों के लिए भगवान् ने इच्छा परिमाण का उपदेश देकर कहा कि इच्छाओं के अन्तहीन दौड़ में दौड़ने की अपेक्षा अपने जीवन के निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है उसका संग्रह करो और जो अनावश्यक है उसे छोड़कर अपनी इच्छाओं का परिमाण करो।

भगवान् कहते हैं- आवश्कताओं की पूर्ति तो सम्भव है, पर आकांक्षाओं की पूर्ति असम्भव है। आज मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के कारण दु:खी नहीं है। उसके दु:ख का कारण उसके मन में पलने वाली आकांक्षाएँ है, क्योंकि आवश्कताएँ सीमित हैं। सीमित होने के कारण उनकी पूर्ति सहज ही हो जाती है। उसके पीछे मनुष्य को रात-दिन आपाधापी में उलझना नहीं पड़ता है। चौबीस घण्टे गोरख धन्धे में फँसना नहीं पड़ता। अत: आवश्यक साधनों में सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति परिग्रह की तृष्णा से दूर रहता है। भले ही उसके पास बाह्य साधन कम होते हैं, परन्तु वह सन्तोष एवं शान्ति के अपरिमित धन का स्वामी होता है। इसलिए कहा गया है कि सच्चा धनवान् वहीं है, जिसे सब तरह से सन्तोष है।

जीवन और आवश्यकताओं का चोली-दामन का संबंध है। जब तक जीवन

है वह आवश्यकताओं से मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु आवश्यकताओं को घटाना बढ़ाना मनुष्य के हाथ में है। यदि मनुष्य के मन में इच्छा/आकांक्षाओं का प्रवाह बह रहा है तो उसकी आकांक्षाएँ सुरसा के मुँह की भाँति बढ़ती ही जाएगी। उसके जीवन का अन्त आ सकता है, परन्तु तृष्णा के रूप में अवतरित आकांक्षाओं एवं कामनाओं का अन्त नहीं हो सकता। कई बार मनुष्य अपने मन की इच्छाओं को ही अपनी आवश्यकता मान बैठता है और उनकी पूर्ति के प्रयत्न में अपनी सारी शक्ति को समर्पित कर देता है। वह जैसे-जैसे अपनी इच्छाओं को पूरी करता है, नई-नई इच्छाएँ उसके मन में उत्पन्न होने लगती है। एक इच्छा पूरी नहीं हुई कि अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हो गई।

वह कामनाओं के कल्पना के लोक में भटक जाता है। उन्हीं कल्पनाओं के कारण कुछ इच्छाएँ मनुष्य के जीवन में आवश्यकताओं का रूप धारण कर ठहर जाती है। इच्छाओं को आवश्यकता के रूप में जुड़ते ही व्यक्ति का जीवन दिशाहीन हो जाता है अत: भगवान् महावीर कहते हैं कि तुम अपने जीवन की आवश्कताओं की समीक्षा करो, जो आवश्यकताएँ अर्थहीन हैं, तुम्हारी इच्छाओं से उत्पन्न हुई हैं, उन्हें नियंत्रित करो। उनके अनियंत्रित प्रसार को रोको। जो अपनी इच्छाओं को आवश्कताओं तक ही सीमित रखता है, उसका जीवन सुखमय और सन्तोषमय बन जाता है। इसके विपरीत जिसका अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं होता, उसका जीवन ब्रेक विहीन गाड़ी की तरह तृष्णा के अंधकूप में गिरकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

हमें इच्छा और आवश्यकता इन दोनों में अन्तर करके चलना चाहिए। आज संसार के समस्त संघर्ष और द्वन्द का कारण इच्छा और आवश्यकता के अन्तर को न समझ पाना है। जहाँ तक आवश्यकताओं का प्रश्न है, मन समाधान माँगता है, यदि मनुष्य उनकी पूर्ति न करे तो अपने जीवन का निर्वाह नहीं कर सकता। इसलिए कोई भी धर्म आवश्यकताओं की पूर्ति का निषेध नहीं करता, लेकिन जब मनुष्य इच्छाओं को ही आवश्यकता मान बैठे, तो फिर मृग मरीचिका में भटकने के अतिरिक्त उसके पास कुछ भी शेष नहीं बचता।

आज के बढ़ते हुए उपभोक्तावादी सोच ने हमारे चिन्तन को बिगाड़ दिया है। इसने इच्छा और आवश्यकता के फासले को खत्म कर डाला है। अपरिग्रह के प्रति

हमारी आस्था डगमगा गई है। परिणामत: जीवन का पूरा सन्तुलन बिगड़ गया है।

एक पत्रकार वार्ता में एक पत्रकार ने मुझसे प्रश्न किया ''आज के युग में सबसे अधिक अपरिग्रह का मूल्य प्रभावित हुआ है। इस विषय में आप क्या सोचते है?'' मैंने कहा- ''भगवान् महावीर ने छब्बीस सौ वर्ष पहले ही हमें आगाह कर दिया था कि यदि तुम अपरिग्रहवादी आदर्श का पालन करना चाहते हो तो उपभोक्तावादी सोच से बचो।'' कहा है-

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषय रोगद्वेष वर्जनानि पंच॥ 8॥

तत्त्वार्थ सूत्र

तात्पर्य यह है कि जब तुम मनोज्ञ और अमनोज्ञ, रुचिकर और अरुचिकर पदार्थों के प्रति रागद्वेष छोड़ोगे तभी तो तुम अपरिग्रह के आदर्श को आत्मसात् कर सकते हो। इस उपभोक्तावादी प्रवृत्ति से आज हमारे मन की लालसा दिनों-दिन बढ़ रही है। उपभोक्तावादी सोच हमारे मन की इच्छाओं को बढ़ाने में आग में घी का कार्य कर रही है।

भगवान् महावीर ने जहाँ आवश्यकता और उपयोगिता के आधार पर पदार्थों के संग्रह की बात की। वहीं आज उसे सामाजिक प्रतिष्ठा (Status) का प्रतीक (Symbol) मानकर ग्रहण किया जा रहा है। जैसे ही टेलीविजन पर कोई विज्ञापन देखते हैं, उसके प्रति हमारे मन में जबर्दस्त आकर्षण उत्पन्न हो जाता है और उसे शीघ्र ही अपने घर में ले आते हैं। यही तो उपभोक्तावाद है। जहाँ वस्तु की उपयोगिता एकदम गौण हो जाती है और हमारे मन की आकांक्षा हावी हो जाती है। इन्हीं आकांक्षाओं से प्रेरित होकर अपनी आर्थिक स्थिति को अनदेखा कर के भी व्यक्ति उन्हें खरीदकर अपने घर लाने का प्रयत्न करता है। इसके पीछे अतिरिक्त धन जुटाने की कोशिश में रात-दिन जुट जाता है। धन लिप्सा की इसी प्रवृत्ति के कारण उसके दु:ख की कहानी शुरु हो जाती है।

जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं के संग्रह के लिए अधिक धन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन मन में हावी आकांक्षाओं की पूर्ति असम्भव ही है, क्योंकि आवश्यकताएँ सीमित है और आकांक्षाएँ अन्तहीन है। ठीक ही कहा है-

तन की तृष्णा तनिक है आध पाव के सेर।
मन की तृष्णा अनन्त है, गिरते मेर के मेर॥

सन्त कहते हैं अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करो। अपनी विस्तारवादी मनोवृत्ति पर अंकुश रखकर जीवन को समेटने का प्रयत्न करो। अपनी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए भोगोपभोग के साधनों की सीमा बनाओ। तुम्हारा काम चार से चल सकता है तो चालीस को पाने की लालसा मत रखों। ध्यान रहे किसी भी वस्तु का संग्रह किसी न किसी के शोषण का कारण भी बन सकता है। यदि कहीं कोई पहाड़ खड़ा होता है तो उसके ही बगल में खाई बन जाती है। आज समाज में व्याप्त विषमता का एक कारण बढ़ती हुई संग्रह वृत्ति भी है। आज किसी के पास तो अपार सम्पदा है, किसी के पास खाने को रोटी भी नहीं है। कहीं अति-भाव है तो कहीं अति अभाव दोनों अतियाँ समाज के लिए हानिकारक है अति-अभाव और अतिभाव के बीच सम भाव होना चाहिए। आज इसी असमानता के कारण वर्ग संघर्ष छिड़ते हैं। जातिवाद और कम्युनिज्म को इसी ने जन्म दिया। है। भगवान् महावीर के अपरिग्रह का आदर्श इस विषमता को दूर करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। जैनधर्म अनावश्यक संग्रह वृत्ति का निषेध करता है। इसे, पाप/अधर्म एवं संघर्ष की जड़ मानता है। भगवान महावीर का यह स्पष्ट उद्घोष है-

'असंविभागी ण हु तस्स मुख्खो।'

जो व्यक्ति अपने सुख-साधनों का अम्बार लगाता जाता है, अपने संग्रह एवं प्राप्त पदार्थों का केवल अपने लिए ही उपयोग करता है। वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि मुक्ति एवं शान्ति भोग में नहीं त्याग में है। संग्रह में नहीं वितरण में है। संग्रह के जाल में बँधा व्यक्ति कभी भी मुक्ति के द्वार को खटखटा नहीं सकता।

गाँधीजी ने जीवन भर इच्छा परिमाण व्रत का पालन किया। उन्होंने अपरिग्रह व्रत के आदर्श को अपनाकर सम्पूर्ण जीवन जिया। वे हमेशा आधी धोती ही पहिनते थे। यह संकल्प उनके मन में तब जगा जब उन्होंने देखा- एक गरीब महिला आधी धोती पहिने है और आधी धोती धोकर सुखा रही है। उसे देखकर उनके मन में प्रेरणा जगी एवं उन्होंने उसी समय यह संकल्प लिया कि जब हमारे देश में ऐसे लोग हैं

जिन्हें पूरा शरीर ढ़कने तक को वस्त्र नहीं है तो मैं अधिक वस्त्र धारण क्यों करूँ? इसीलिए उन्होंने अपनी पूरी जिन्दगी आधी धोती के सहारे गुजार दी। अपरिग्रह का ऐसा आदर्श हमारे जीवन में आना ही चाहिए।

इच्छाएँ अन्तहीन हैं। उन्हें कभी पूरी नहीं किया जा सकता। हम पढ़ते हैं–

तृष्णा को जितना तृप्त करें, उतनी बढ़ती इच्छा ज्वाला॥

चाहे धन-पैसे की बात हो, या अन्य सांसारिक विषयों की, आशा, आकांक्षा और कषायें मनुष्य को व्याकुल बनाए रखती है। अधिकाधिक धन पाने की चाह में वह रात-दिन बेचैन रहता है। वह जितना अधिक धन संग्रह करता है उसकी आन्तरिक बेचैनी उतनी ही बढ़ती है। कहावत है– 'जितना होना, उतना रोना'। मनुष्य संसार की सारी सम्पत्ति भी क्यों न प्राप्त कर ले, मन के सन्तोष के अभाव में उसकी तृष्णा उसे कभी सुखी नहीं रहने देती। अंग्रेजी में कहावत है, जो इस संदर्भ में बड़ी सार्थक है–

The more they get the more They Want.

तृष्णातुर मनुष्य जितना अधिक पाता जाता है, उसकी चाह उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। लाभ के साथ लोभ बढ़ता है। इसके विपरीत जो मनुष्य अपने सीमित साधनों में सन्तुष्ट रहता है, वह उतना ही अधिक निश्चित और सुखी रहता है। ठीक ही कहा है–

Less coin less care

धन संग्रह का चक्कर बड़ा बुरा है। धन के चक्कर में मनुष्य कई बार घनचक्कर बन जाता है और वहीं से उसके दु:ख की कहानी प्रारम्भ हो जाती है।

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने मनुष्य की अन्तहीन लालसा को रेखांकित करते हुए एक बड़ा रोचक आख्यान लिखा है–''निन्यानबे का चक्कर।''

एक धनी सेठ रहता था। वह अपार सम्पत्ति का स्वामी था। धन एवं प्रतिष्ठा की उसके पास कोई कमी नहीं थी। फिर भी उसे रात-दिन चैन नहीं था। वह रात को सही ढंग से सो भी नहीं पाता था। उसकी बेचैनी से उसकी पत्नी बहुत परेशान थी।

एक दिन उसने सेठ जी से निवेदन किया कि हे पतिदेव! अपने पास अपार

धन-सम्पदा है, फिर भी सुख चैन क्यों नहीं? न तो आप चैन से समय पर भोजन कर पाते हो, और न ही सुख से सो पाते हो, न ही बच्चों से ढंग से बात करते हो। अपने से तो अच्छा वह बगल में रहने वाला सुखिया हैं। वह सुबह से उठकर भगवाग् का भजन करता है, फिर अपनी मेहनत-मजदूरी के लिए निकलता है। आठ घण्टे मजदूरी करके वह वापस आता है। अपने परिवार के साथ आनन्द से भोजन करता है, बच्चों के साथ खेलता है और रात को खूब भजन गाता है फिर चैन से सोता है। सुबह-सुबह उसके घर से भगवान् के भजनों की ध्वनि हमारे कानों में पड़ती है।

सेठ ने पत्नी कही बात सुनकर मुस्कुराते हुए कहा– ''सचमुच में सुखिया बड़ा गरीब है। हमें इसे कुछ सहयोग करना चाहिए, बाद में तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान करूँगा।'' सेठ ने अपनी पत्नी को एक थैली पकड़ाई और कहा कि रात में इसे सुखिया के आँगन में डाल देना। पत्नी ने थैली सुखिया के आँगन में डाल दी।

सुबह जैसे ही सुखिया की नजर उस पोटली पर पड़ी। उसने हर्ष से भरकर उसे उठाया। पोटली को खोलकर देखा उसमें सोने की मुहरें थी। उसने अपनी पत्नी को आवाज लगाते हुए कहा कि-''देख आज परमात्मा का प्रसाद अपने आँगन में आया है। सच कहते हैं भगवान् के घर में देर है, अन्धेर नहीं।'' इतना कहकर उसने मुहरों को गिनना शुरु किया। कुल निन्यानबे मुहर थे। उसने सोचा कि निन्यानबे हैं, यदि एक और होता तो पूरे सौ हो जाते। अब वह एक मुहर और प्राप्त करने के लिए दिन-रात बेचैन हो उठा। अभी तक वह जो कुछ कमाता, उससे उसके परिवार का गुजारा अच्छी तरह हो जाता था। पर अब तो एक मुहर की चिन्ता थी। वह रात-दिन, मेहनत कर पैसा कमाने लगा। पैसा बचाने के चक्कर में उसका खाना-पीना भी कम हो गया, भगवान् का भजन भी छूट गया। जैसे-तैसे पैसे जोड़कर उसने एक दिन एक मुहर प्राप्त कर ली। अब उसने सोचा कि इसे रखने के लिए तिजोरी भी चाहिए। तिजोरी के लिए पैसे जुटाने लग गया। तिजोरी लाने के बाद एक दिन उसने उसमें अपनी मुहरों को डाला, तो देखता है क्या है कि तिजोरी बहुत बड़ी है और मुहर बहुत कम? अब वह तिजोरी भरने के पीछे पागल हो गया और उसका नाम अब सुखिया से दुखिया हो गया है। यही है-'निन्यानबे का चक्कर'। धन-सम्पत्ति पाने की अन्तहीन

लालसा में उलझे मनुष्य की मानसिक दशा का यह बड़ा यथार्थ चित्रण है।

धन के चक्कर में उलझा हुआ मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने अभीष्ट पदार्थ को प्राप्त करता है, त्यों-त्यों उससे और अधिक पाने की चाह उसके मन में उभरने लगती है। परिणामत: वह अहर्निश तृष्णा की आग में झुलसता रहता है। सन्त कहते हैं कि संतोष के निर्मल जल से ही तृष्णा की आग को बुझाया जा सकता है। एक बड़ा सुन्दर कवित्त है-

जो दस बीस पचास भये,
शत होय हजारन लाख मँगेगी।
कोटि अरब्ब-खरब्ब असंख्य,
पृथ्वीपति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल को राज्य करो,
तृष्णा अधिकी अति आग लगेगी।
सुन्दर एक सन्तोष बिना,
शठ! तेरी भूख कभी न भगेगी॥

धन गृहस्थ के जीवन के निर्वाह के लिए अनिवार्य साधन है। धन के बिना गृहस्थ का काम नहीं चल सकता। इसलिए गृहस्थ को धन के पूर्ण त्याग का उपदेश नहीं दिया जाता। पर धर्नाजन करने वाले इतना जरूर ध्यान रखना चाहिए कि धन जीवन के लिए है न कि धन के लिए जीवन। जिसे यह विवेक हो जाता है, वह अपनी आवश्यकता और आकांक्षाओं के भेद को समझने लगता है। रोजी-रोटी जीवन के निर्वाह का साधन है सन्त कहते हैं-रोटी कमाना है, कमाओ। पर कमाने में इतने मत उलझ जाओं कि खाने का वक्त ही न मिले। इसलिए भगवान् महावीर कहते हैं-''जीवन में जितना आवश्यक है उसका संग्रह करो, जो अनावश्यक है उसके पीछे पागल मत होओ।'' भगवान् ने इच्छा परिमाण का उपदेश दिया है, आवश्यकता के परिमाण का नहीं। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक मूलभूत पदार्थों का जुटाना तो ऐसे ही है जैसे कि खेत की फसल की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर लगायी जाने वाली बाढ़। जब तक बाढ़ की सीमा में रहती है तब तक वह खेत की सुरक्षा का साधन बनती है, लेकिन बाढ़ जब सीमा का उल्लंघन कर खेत में प्रवेश कर जाती है

तो वह खेती के लिए खतरा बन जाती है। मनुष्य को अपनी आवश्यकता और आकांक्षा के अन्तर को भली भाँति समझना चाहिए।

साधारण मनुष्य धन, वैभव एवं पदार्थों का पूर्णत: त्याग नहीं कर सकता। जैसे समुद्र में चलने वाली नौका पानी का परित्याग नहीं कर सकती। सागर को पार करने के लिए तैरना आवश्यक है। उसके नीचे अनन्त जलकण प्रवाहमान रहते हैं। फिर भी उसे तब तक खतरा नहीं रहता है जब तक जल का प्रवाह उसके नीचे दबा है। परन्तु पानी का थोड़ा सा प्रवाह भी उसमें भर जाए तो नौका के लिए खतरा खड़ा हो जाएगा। यही स्थिति जीवन की है। भले ही सारे संसार की सम्पत्ति उसके चरण चूम रही हो, परन्तु उसके मन में ममता, इच्छा, मूर्च्छा और आसक्ति का प्रवाह नहीं है, तो उसके जीवन के लिए कोई खतरा नहीं है। सन्त कहते हैं-धन सम्पत्ति का संग्रह बुरा नहीं है। संग्रहित धन के प्रति ममत्व/मूर्च्छा और आसक्ति का भाव बुरा है। भगवान् महावीर का साधारण गृहस्थों के लिए यही उपदेश है कि अपने जीवन की आवश्यकताओं का आकलन करो। चित्त में इच्छा, आसक्ति और आकांक्षाओं को हावी मत होने दो। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक धन का न्याय-नीति से संग्रह करो और अपने संग्रहीत धन का सदुपयोग करो। यही इच्छा परिमाण का निहितार्थ है।

धन को नदी के समान कहा गया है। नदी सदैव नीचे की ओर बहती है। नदी जितनी अधिक ढलान की ओर जाती है, उसका प्रवाह उतना ही विस्तृत होता जाता है। बहते-बहते वह नदी विशाल सागर में जाकर समाहित हो जाती है। नदी अपने पास कुछ नहीं रखती। सारा पानी समुद्र में चला जाता है। लेकिन नदी के उसी जल को बाँध बनाकर संग्रहीत किया जाता है, तो उस संग्रहीत जल को नहरों के माध्यम से प्रवाहित करके खेतों में पहुँचाया जाता है। रेगिस्तान में भी हरियाली फैल जाती है। पानी का संग्रह तब तक बुरा नहीं, जब तक उसका उपयोग होता रहे, अन्यथा वही बाँध प्रलय का आधार भी बन सकता है। सन्त कहते हैं कि धन का संग्रह बुरा नहीं है, परन्तु ममत्व और मूर्च्छा में पड़कर उसे सदैव संग्रहीत बनाएँ रखना, व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कम खतरनाक नहीं है। अपने संग्रहीत धन को अभावग्रस्तों में बाँटकर उसका सदुपयोग करना चाहिए। धन का सदुपयोग

तिजोरी भरने में नहीं, दीन दु:खियों की सेवा में लगाने में है। सदुपयोग करने पर वह धन, धन नहीं द्रव्य बन जाएगा।

आर्थिक प्रतिस्पर्धा के इस युग में जहाँ समस्त सामाजिक मूल्य अर्थ प्रधान हो गये हैं। 'अर्थ है तो कुछ अर्थ है, अन्यथा सब कुछ व्यर्थ है' ऐसी सोच बनती जा रही है। ऐसे विषम दौर में इच्छा परिमाण के व्रत को अंगीकार करने की बात लोगों को अटपटी लगती है। पर बन्धुओं! ये बात सिर्फ उन्हें ही अटपटी लगती है जिनके जीवन का साध्य केवल पदार्थ और पदार्थजन्य भोग है। लेकिन जो परमार्थ के आराधक हैं, वे ऐसे आदर्श को अपनाकर अपने जीवन का कल्याण करते हैं। आज भी ऐसे अनेक साधक हैं, जो अपरिग्रह के आदर्श को आत्मसात् कर सीमित साधनों में सन्तुष्ट रहने की कला अपनाए हुए हैं।

ऐसे ही साधकों में से एक हुए हैं 'पण्डित सदासुखदास जी' जिन्होंने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की भाषा वचनिका लिखी है। आज वह घर-घर में बाँची जाती है। वे बड़े संतोषी थे। उन्होंने अपरिग्रह के आदर्श को आत्मसात् कर जीवन जिया। वे जयपुर नरेश के यहाँ खजांची के पद पर नियुक्त थे। पण्डित जी का वेतन मात्र छह रुपये मासिक था। इतने से वेतन में ही वे अपना और अपने परिवार का खर्च बड़ी आसानी से चला लेते थे। उनके मन में कुछ और एकत्रित करने की लालसा नहीं थी।

जयपुर नरेश ने एक बार अपने समस्त कर्मचारियों का वेतन बढ़ाया। पण्डित जी को भी जब छह: रुपये की जगह आठ रुपये वेतन दिया गया तो पण्डित जी ने पूछा कि दो रुपया अधिक क्यों दिया जा रहा है? तब उन्हें बताया गया कि सभी राजकर्मचारियों का वेतन बढ़ाया गया है। अत: आप भी इसे बढ़े हुए वेतन को स्वीकार करें। पण्डितजी बोले-मुझे अधिक वेतन की आवश्यकता नहीं है। लोगों ने सोचा कि ये और अधिक वेतन चाहते हैं। अत: उनसे पूछा गया कि आप और कितने अधिक वेतन में सन्तुष्ट होंगे। पण्डितजी ने कहा-''मेरा काम तो मात्र छह: रुपये मासिक में चल जाता है। अत: मुझे अतिरिक्त वेतन की आवश्यकता नहीं हैं।''

बात राजा तक पहुँची। पण्डित जी राजा के पास उपस्थित हुए। राजा बोला- ''पण्डितजी आप हमारे निष्ठावान् सेवक हो। मुझे आपका वेतन बहुत पहिले ही बढ़ा देना चाहिए था। लेकिन मैं बढ़ा नहीं सका। अब आप इस माह से बढ़ा हुआ वेतन मेरी आज्ञा से स्वीकार करें।''

पण्डित जी ने कहा- ''राजन् आप मेरा वेतन बढ़ा रहे हो, यह मेरे प्रति आपकी बड़ी कृपा है। लेकिन मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है। मेरा खर्च छह: रुपये में अच्छी तरह चल रहा है। अब यदि आठ रुपये वेतन मिलेंगे तो दो रुपये खर्च करने की अतिरिक्त चिन्ता करनी पड़ेगी। राजा साहब यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं और मेरी सेवाओं से सही अर्थों में मूल्यांकन करना चाहते हैं तो एक कृपा करें, मेरा वेतन तो छह रुपये ही रहने दें, परन्तु जो मैं आपके यहाँ आठ घण्टे काम करता हूँ, उसमें दो घण्टे कम कर दें, जिससे मैं 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की वचनिका को शीघ्र पूरा कर सकूँ।''

ये कहलाता है- इच्छा परिमाण। अपरिग्रह का आदर्श।

बन्धुओं! आज के इस अर्थ प्रधान युग में ये बात सुनने में तो अच्छी लगती है लेकिन स्वीकार करने में बड़ी हिचकिचाहट होती है। यदि इसे स्वीकार कर लेंगे तो समाज में हमारा मूल्य कहाँ होगा। आज सारा परिवेश अर्थ प्रधान हो गया है।

बन्धुओं! यह अर्थ हमें भौतिक रूप से सन्तुष्ट कर सकता है, परन्तु पारमार्थिक सन्तुष्टि तीन काल में भी अर्थ से प्राप्त नहीं हो सकती है। अर्थ के बल पर कोष तो भरा जा सकता है तोष नहीं। तृप्ति अक्षय कोष में नहीं, अक्षय तोष में है। जो कि परमार्थ के बल पर उपलब्ध हो सकती है। अत: धन संग्रह की अन्तहीन लालसा को नियंत्रित करने की कोशिश करें तथा इच्छा परिमाण के आदर्श को अपना कर सन्तोषमय और सुखमय जीवन का आनन्द लें।

रामायण पर आधारित एक लोक कथा है। आज के सन्दर्भ में वह बहुत प्रासंगिक है। उसे सुनाकर विराम लूँगा। कहते हैं कि जब रावण मृत्यु-शय्या पर पड़ा अपनी अन्तिम श्वासें गिन रहा था, उस समय उससे पूछा गया कि उसकी कोई इच्छा अवशिष्ट रह गई हो तो बताये, उसे पूरा किया जाएगा। इस इस पर रावण ने कहा- ''मेरे जीवन के कुछ अरमान अधूरे रहे गये हैं। मेरे कुछ सपने ऐसे अधूरे रह गये हैं, जो पंख कटे पक्षी की तरह अब उड़ान भरने में असमर्थ हैं। वे अब किसी तरह पूरे नहीं हो सकते।''

(1) मेरी इच्छा थी कि अग्नि जले परन्तु उससे कालिख और धूँआ न निकले। उसमें मलिनता नहीं केवल प्रकाश और उज्जवलता हो।

(2) सोना, जो देखने में बहुत सुन्दर लगता है, उसमें सुगन्ध भी हो।

(3) लंका के चारो ओर जो खारे पानी का समुद्र लहरा रहा है, उसका जल मीठा बन जाए, ताकि सबके काम आ सके।

उसने आगे कहा कि इच्छाएँ तो और भी हैं, पर मेरी ये तीन खास इच्छाएँ अधूरी रह गई है। मैंने संसार के इस छोर से उस छोर तक अपनी विजय दुन्दुभि बजाई, सोने की लंका बसाई, सारे जगत् को अपने पौरुष और पराक्रम से अपने आधीन किया, फिर भी मेरी असंख्य इच्छाएँ अधूरी रह गई। बस, उन्हीं के दुःख और दर्द से मैं छटपटा रहा हूँ।

यह कथा मात्र रावण की नहीं, संसार के हर प्राणी की यही दशा है। हर प्राणी जीवन भर अनेक प्रकार के सपने गढ़ता है, अरमान संजोता है, लेकिन मरते दम सबको अधूरा छोड़कर जाता है। आज तक संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं हुआ है जिसने मरते दम तक यह कहा हो कि मैंने अपने जीवन की समस्त इच्छाएँ पूरी कर ली है। इच्छाएँ दुष्पूर हैं, वे कभी भी पूरी नहीं हो सकती है, सदैव अधूरी रहती है, उन्हें नियंत्रित कर सन्तोष को अपनाना ही बुद्धिमत्ता है।

दो पंक्तियों के साथ अपनी वाणी को विराम दूँगा।

खूब तरशाया है, तेरी ख्वाहिशों ने तुझे।
अब तू इन ख्वाहिशों को, खुद तरशती छोड़ दे॥

★★★

धर्म से जुड़कर करें धनार्जन

एक सन्त किसी नगर में अपना धर्म प्रवचन दे रहे थे। काफी अधिक श्रद्धालु नित्य-प्रति उनके प्रवचन में जाते थे। सन्त अपनी मधुर वाणी से सबको जीवन के शाश्वत मूल्यों का पाठ-पढ़ाते थे। एक दिन एक चोर उनकी सभा में कहीं से पहुँच गया। वह पीछे बैठकर सन्त की अमृत वाणी का पान करने लगा। प्रवचन का उस पर बड़ा प्रभावी असर हुआ। उसे अपने कृत्यों से ग्लानि होने लगी। उसने मन ही मन यह तय कर लिया कि आज के बाद मैं कभी चोरी नहीं करूँगा।

अगले दिन उसे अपने घर के लिए कुछ सौदा खरीदना था। वह एक सेठ की दुकान पर गया। सेठ ने उसका सामान तौलते समय डंडी मार लिया। यह देखकर चोर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सेठ से कहा- ''सेठ जी, हद् हो गई, आप प्रतिदिन सन्तश्री के प्रवचन सुनने जाते हो, सबसे आगे की पंक्ति में बैठते हो, उसके बाद भी बेईमानी करते हो! मैंने तो एक दिन के प्रवचन से ही चोरी का त्याग कर दिया। जबकि मेरी तो जीविका ही वही थी।''

सेठ ने चोर को समझाते हुए कहा- ''सुनो भाई, वह धर्म है, यह धन्धा। हम धर्म और धन्धे को एक करना नहीं चाहते।''

आज के सन्दर्भ में यह प्रसंग बहुत ही प्रासंगिक है। जीवन के निर्वाह के लिए जीविका आवश्यक है, और जीविका के लिए धन्धा। भगवान् महावीर कहते हैं, जीवन निर्वाह के लिए तुम्हें धन्धा करना है करो, पर ध्यान रहें धन्धा अन्धा न हो, अन्धाधुन्ध भी न हो। तुम्हारा धन्धा धर्म से अनुबन्धित रहना चाहिए। धर्म और धन्धे के बीच का फासला खत्म होना चाहिए। इसी फासले को मिटाने के लिए भगवान् ने सूत्र दिया है- सम्यक् आजीविका।

सम्यक् आजीविका-वह जीविका है जो हिंसा मुक्त हो, शोषण मुक्त हो, और

अन्याय मुक्त हो। जिस व्यापार में हिंसा का सहारा लिया जाता है, शोषण का पुट हो या अन्याय पूर्वक धन कमाया जाता है, वह सम्यक् आजीविका नहीं हो सकती। सम्यक् आजीविका के अभाव में व्यक्ति सम्यक् पथ पर नहीं बढ़ सकता। व्यापार-व्यवसाय मुख्यतः अर्थ के उपार्जन के लिए किया जाता है, पर मात्र अर्थ के उपार्जन के उद्देश्य से किया गया व्यापार सम्यक् आजीविका नहीं है। सम्यक् आजीविका का अर्थ है-अर्थ के उपार्जन में भी अनर्थ से बचते रहना। अर्थ के पीछे अनर्थ नहीं करना। यह उसे जीवन में ही घटित हो सकता है जो अर्थ से अधिक परमार्थ को महत्व देता है। जो धन को साध्य नहीं, जीवन निर्वाह का साधन मानता है।

आज जीविका के मुख्य चार साधन हैं -

(1) व्यापार (2) उद्योग (3) खेती (4) नौकरी

उक्त चारों प्रकार के साधनों में ''न्यायोपात्त धनो'' का मूल मंत्र जुड़ा होना चाहिए और यह मूल मंत्र तभी जुड़ सकता है, जब व्यक्ति धन को साध्य नहीं, साधन माने। भगवान महावीर कहते हैं- व्यापार तो करो, पर उसका साध्य मात्र अर्थ का उपार्जन ही नहीं होना चाहिए। व्यापार का संचालन भी धर्म नीति से अनुबन्धित होकर ही करना चाहिए। आचार्यों ने कहा है-

धर्माविरुद्धौ अर्थकामौ संचरेत्

धर्म से अविरूद्ध अर्थ और काम का ही आश्रय लेना चाहिए। जिस व्यापार में नीति-अनीति, न्याय-अन्याय और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक नहीं है, वह व्यापार सम्यक् आजीविका की कोटि में नहीं आ सकता है।

व्यापार के चयन में भी सावधानी अपेक्षित है। शास्त्रों में कुछ क्रूर कर्म निर्दिष्ट किये गये हैं। क्रूर-कर्म से तात्पर्य है- ऐसी आजीविका/व्यापार/उद्योग-धन्धा जिसमें जीवों के अत्यधिक हिंसा की सम्भावना हो। जैसे-हिंसक सामग्री का क्रय विक्रय, चर्म निर्मित वस्तुओं का व्यापार, कीट नाशक वस्तुओं का व्यापार, शराब आदि गर्हित वस्तुओं का व्यापार-आदि। इन सबका परित्याग करना चाहिए। जिसमें स्पष्टतया हिंसा परिलक्षित हो रही हो, वह कभी भी आलम्बनीय नहीं हो सकता। सन्त कहते हैं-रूखा-सूखा खाकर सन्तोष कर लेना तो ठीक है, लेकिन हिंसा के मूल्य पर धनार्जन करना ठीक नहीं है। कुरल काव्य में लिखा है-

''जो धन दया और ममता से रहित है, उसकी तुम कभी इच्छा भी मत करो और उसको कभी अपने हाथों से छुओं भी मत।''

व्यापार के क्षेत्र में प्रामाणिकता भी होनी चाहिए। व्यापार प्रामाणिकता की भूमि पर फलता फूलता है। यदि व्यापारी सही प्रामाणिकता नहीं अपना रहा हो तो चाहे वह कितनी भी पूँजी लगा ले उसका व्यापार बढ़ नहीं पायेगा। उसे अपनी व्यापारिक नीतियों को साफ-सुथरी रखना चाहिए। ऐसे कृत्यों से सदैव बचना चाहिए जिससे उसकी प्रामाणिकता खण्डित होती हो। व्यापार सदैव सत्य की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। पुराने समय में लोग इन बातों का बड़ा ध्यान रखते थे। एक बड़ा प्रेरक प्रसंग है-

किसी गाँव में एक सेठ रहते थे। उनका व्यापार चारों फैला हुआ था। वे कपास का भी व्यापार करते थे।

एक बार कपास के भाव अचानक बहुत गिर गये। किन्तु इधर उनके मुनीम ने कपास का एक बड़ा सौदा कर लिया और पत्र द्वारा सेठ को सूचित कर दिया।

सेठजी मुनीम जी के इस कार्य से बहुत असन्तुष्ट और नाराज हुए। तभी उसी मानसिक स्थिति में उन्होंने मुनीम को लिख दिया- ''आजकल कपास का भाव बहुत गिर गया है। इसलिए तुमने इतना कपास क्यों खरीदा? तुमने बिना विचारे यह सौदा किया है, इसलिए इस समय खरीदे गये कपास के लाभ-हानि के जिम्मेदार तुम होओगे।''

मुनीम बड़ा ही ईमानदार और स्वामी भक्त था। उसने सोचा कि सेठ लोग तो इसी प्रकार कहा करते हैं। जब व्यापार में मुनाफा होता है तो सारी कमाई चुपचाप अपनी तिजोरी में रख लेते हैं। उसने कोई प्रत्युतर नहीं दिया।

भाग्यवशात् कुछ दिनों में कपास का भाव बहुत चढ़ गया। और उसमें लाखों रुपये का फायदा हुआ।

मुनीम ने लाभ का सारा रुपया अपने सेठ को भेज दिया। किन्तु सेठ भी सेठ था। उसने सब रुपया मुनीम को लौटाते हुए लिखा-''मुझे धन का लोभ नहीं है। आपने जिस समय कपास का सौदा किया था, मैंने उसी समय लिख दिया था कि इस सौदे की लाभ-हानि के जिम्मेदार तुम हो। साथ ही सौदा मैने आपके नाम लिख दिया

था। अब उसमें जो लाभ हुआ है, वह खुशी की बात है, पर यह पैसा मैं नहीं ले सकता। मैंने अपनी लेखनी से जो एक बार लिख दिया, उसे बदल नहीं सकता आप ही इस लाभ के हकदार हो और आप ही इसे ग्रहण करो।''

यह है व्यापार की प्रामाणिकता।

आज की व्यापार नीति बदल गई है। व्यापारियों का लक्ष्य केवल धन संग्रह का हो गया है। वे येन केन प्रकारेण धन-संग्रह के उधेड़-बुन में लगे रहते हैं। उसके लिए नीति-अनीति, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, का कुछ भी मूल्य नहीं रह गया है। इसी कारण आज व्यापार का स्तर दिनोंदिन गिरता जा रहा है। नित-प्रति भ्रष्टाचार के नये-नये तरीके ईजाद होते जा रहें हैं। इस प्रकार के अनैतिक कृत्यों से बचना चाहिए।

आज के व्यापार में बेईमानी, मिलावट और धोखेबाजी जैसी अनैतिक प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ गई है। पहले धर्म और नीति की प्रतिष्ठा थी। उसका स्थान अधर्म और अनीति ने ले लिया है। जिस देश में धर्म से नियंत्रित अर्थ के अर्जन का उपदेश दिया गया तथा व्यापार व्यवसाय में धर्म और नीति को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। आज उसे गौण कर धनार्जन ही सबसे बड़ी प्राथमिकता बन गई है। इसी कारण आज लोग धन के अर्जन के पीछे अपने ईमान और धर्म को भी ताक पर रखने लगे हैं। औरों की बात तो जाने दो, अब तो मुनष्य भगवान् को भी धोखा देने लगा है।

एक किसान अनुकूल वर्षा न होने के कारण काफी दिनों से परेशान था। उसकी फसल ठीक से नहीं आ पा रही थी। उसने भगवान् से प्रार्थना की। कहते हैं कि भगवान् ने कहा कि ठीक है एक काम करो, मैं पानी बरसाऊँगा, तुम मेहनत करना जो भी फसल होगी हम दोनों आधा-आधा बाँट लेंगे।

किसान बड़ा खुश हुआ। उसने कहा - ''भगवान् ये तो बड़ा अच्छा होगा। आप ये बताओं कि आप ऊपर की फसल लोगे कि नीचे की?''

भगवान् ने कहा कि हम ऊपर की फसल लेंगे।

किसान बड़ा चतुर था। उसने मूँगफली बोई। खूब पानी बरसा, फसल अच्छी आई। समय पर भगवान् फसल लेने आये तो किसान ने ऊपर-ऊपर की पत्तियाँ भगवान् को दे दी और नीचे की पूरी मूँगफली अपने पास रख ली। भगवान् ने कहा

- ''ये तो बड़ा धोखा है। अबकी बार मैं नीचे की फसल लूँगा।''

किसान ने कहा- ''ठीक है भगवान्! आप नीचे की ले लेना, मैं ऊपर की ले लूँगा।''

अबकी बार किसान ने ज्वार बोये। ज्वार ऊपर उगती है। फसल तैयार होने पर भगवान् आये, किसान की चतुराई के वे फिर शिकार हो गये। ऊपर-ऊपर की ज्वार किसान ने ली और नीचे के पत्तों पर भगवान् को सन्तोष करना पड़ा।

तीसरी बार भगवान् ने कहा कि अबकी बार मैं ऊपर और नीचे दोनों की फसल लूँगा, तुम बीच की ले लेना। किसान ने फिर भगवान् का प्रस्ताव मान लिया। पर किसान तो किसान था। उसने फिर चालाकी की और अबकी बार उसने मक्का बोया।

फसल पककर तैयार हुई। भगवान् देखकर दंग रह गये। क्योंकि मक्के की फसल बीच में थी ऊपर नीचे कुछ नहीं था।

यह कथा काल्पनिक हो सकती है। पर इसका कथ्य सौ प्रतिशत सत्य है। आज यदि भगवान् धरती पर अवतरित होकर मनुष्य के साथ व्यापार करें तो मनुष्य इससे भी नीचे के स्तर की बेईमानी कर सकता है। किसी कवि की ये पंक्तियाँ बड़ी सार्थक है-

मैं कब कहता हूँ, आप
कुटुम्ब परिवार से नाता तोड़ लीजिए।
अपने काम धन्धों को छोड़कर
संसार से मुँह मोड़ लीजिए
कहना तो यही है
यदि हर आत्मा में परमात्मा
होने का विश्वास है
तो कम से कम
भगवान् के साथ
धोखा करना तो छोड़ दीजिए।

धोखा धड़ी करके मनुष्य संसार में पैसा और प्रतिष्ठा तो पा सकता है। वह

दुनिया के लोगों को बेवकूफ बना सकता है। लेकिन इस प्रकार के अनैतिक कृत्यों से अर्जित धन के साथ जो पाप एकत्रित होता है, उससे कैसे बचेगा। सम्पत्ति यही छूट जाएगी पर उसके साथ अर्जित पाप भव-भवान्तरों तक पीछा करता है। सन्त कहते हैं छल-कपट, मायाचारी, बेईमानी करके दूसरों को बेवकूफ बनाने की कोशिश करना, जीवन की सबसे बड़ी बेवकूफी है। आत्मवंचना है; क्योंकि बुरे, का फल सदैव बुरा ही होता है।

भगवान् महावीर ने मिलावट, बेईमानी, मापतौल में कमती-बढ़ती, तस्करी, चोरी आदि को चौर्य कर्म कहा है। चोरी पाप है। उसका परिणाम सदैव बुरा होता है। मनुस्मृति में भी दो प्रकार के चोरों का उल्लेख है-एक प्रकाश चोर और दूसरा अप्रकाश चोर।

जिन्हें हम चोर कहते हैं, वे अप्रकाश चोर हैं; क्योंकि वे अपना काम रात के अन्धेरे में करते हैं। लेकिन प्रकाश चोर दिन-दहाड़े चोरी करते हैं। व्यापार में अनैतिकता, मिलावट, बेईमानी और माप-तौल में कमती-बढ़ती करने वाले, रिश्वत खोर ये सभी अप्रकाश चोर की श्रेणी में आते हैं; क्योंकि इनका काम प्रच्छन्न रूप से होता है। आचार्य उमास्वामी ने इन पाँच बातों को चौर्य कर्म में शामिल किया है-

(1) चौर्य कर्म की प्रेरणा देना, अनुमोदना करना, मदद करना।
(2) चोरी का माल खरीदना
(3) राजकीय नियमों के विरूद्ध चोर बाजारी करना
(4) नाप-तौल के दो तरह के उपकरण रखना
(5) मिलावट करना।

उक्त पाँचों कर्म चौर्य कर्म हैं, पाप कर्म हैं, व्यापार व्यवसाय में इनको परहेज करना चाहिए। तभी आजीविका सम्यक् आजीविका की श्रेणी में आ सकेगी।

व्यापार के कार्य में शोषण से बचना चाहिए। क्योंकि शोषण भी हिंसा का ही एक रूप है। बिना हिंसक हुए शोषण नहीं हो सकता।

शोषण के संबंध में एक व्यक्ति ने मुझे प्रश्न किया कि जैन समाज अहिंसावादी, करुणाशील समाज मानी जाती है। परन्तु इसमें ब्याज लेने-देने की बड़ी बुरी परम्परा हैं। जबकि मुसलमानों के यहाँ सूदखोरी को गुनाह माना जाता है। जैनियों के यहाँ

* स्तेन प्रयोगतदाहृतादान विरूद्धराज्यातिक्रम हीनाधिक मानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहारा:। तत्त्वार्थ सूत्र ७/२७

सूदखोरी का काम सबसे ज्यादा होता है। क्या यह शोषण की प्रवृत्ति नहीं है? मैंने उन्हें उत्तर दिया- इसमें दो दृष्टियाँ काम करती है- (1) शोषण (2) सहयोग की।

जहाँ तक शोषण का प्रश्न है उसमें ब्याज क्या, हर धन्धे को निषिद्ध बताया गया है। यदि ब्याज दर मानक हो, वैधानिक हो, और सीमा का उल्लंघन न करती हो, तो यह शोषण के अन्तर्गत नहीं होगी। परन्तु यदि, सामने वाले की मजूबरी और विवशता का लाभ उठाने की नियत से यदि उल्टे-सीधे ब्याज दर पर धन दिया जाता है और उसे पीड़ित करके वसूला जाता है तो वह अवश्य ही शोषण मूलक है।

एक गृहस्थ को बेटी के विवाह के लिए धन चाहिए, यदि उसे कोई सहयोग देने की भावना से ऋण के रूप में अपना धन देता है, किसी को इलाज के लिए पैसा चाहिए और उसके जीवन रक्षा के निमित्त पैसा दे देता है, तो यह सहयोगात्मक दृष्टिकोण है। यदि ब्याज का धन्धा सहयोग की भावना पर आधारित है तो यह एक उत्कृष्ट उदाहरण बन सकता है।

ब्याज का व्यवसाय इसी प्रकार की भावना से करना चाहिए। यदि किसी को ब्याज पर अपनी रकम दी है तो उसे वसूलने के लिए किसी की छाती पर नहीं चढ़ना चाहिए। अपने धन की खातिर किसी का घर परिवार नहीं उजाड़ना चाहिए। धन तो जड़ है, जड़ धन से अधिक महत्त्वपूर्ण चेतन-धन है। यदि मन में इतनी उदारता हो तभी ब्याज का व्यवसाय करें। अपनी रकम देने से पहले सारी परिस्थितियों को समझ लें। विश्वास-पात्र और प्रामाणिक व्यक्ति को ही अपना धन दें। परन्तु धन देने के बाद किसी अशुभ कर्म के योग से सामने वाला आपकी सम्पत्ति लौटाने की स्थिति में न हो तो उस पर अतिरिक्त दबाव न डाले। उसके साथ यातनापूर्ण अमानवीय व्यवहार न करें। इस प्रकार की उदार भावना हो तभी ब्याज का व्यवसाय सम्यक् आजीविका की श्रेणी में आ सकता है, अन्यथा वह शोषण की पयार्य कहलाएगा।

आज के युग में भी ऐसे अनेक बड़े-बड़े आदर्श मनीलेण्डर हैं जो सहयोगात्मक भावना से ब्याज पर पैसा देते हैं। ऐसे ही लोगों में एक थे विदिशा के सेठ विजयकरण पाटनी साहब। वे मुख्यतः ब्याज, गल्ला और कृषि का कार्य करते थे। वे कभी निर्धारित मानकों से अधिक ब्याज नहीं लेते थे तथा बड़ी से बड़ी रकम देने के बाद भी वे किसी के दरवाजे पर अपना पैसा माँगने के लिए नहीं गये। मैंने उनसे एक बार पूछा तो उन्होंने बताया ''महाराज! मेरे पास पैसा रखा हे, सो मैं लोगों को देता हूँ,

देने से पहले विचार कर लेता हूँ, पर मैं आज तक किसी के घर पैसा माँगने नहीं गया और महाराज क्या कहूँ? जो लेकर आता है, आपके आशीर्वाद से वह खुद वापिस लौटा जाता है।''

ऐसा उसी व्यक्ति के जीवन में हो सकता है जिसके जीवन में धन साध्य न हो। जिसके जीवन का साध्य धन होगा वह एक-एक पैसे का सूद गिनेगा। कहते हैं- सूदखोर आदमी भोजन भी ढंग से नहीं कर सकता। वह शाक-सब्जी के पैसे में भी ब्याज का हिसाब लगाता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले लोग जो ब्याज की अनुचित दर लेते हैं और उसे गलत तरीके से वसुलते हैं, वे एक प्रकार का बड़ा पाप करते हैं, उनकी उस प्रवृत्ति में शोषण है, अन्याय है। ऐसे लोगों को लक्ष्य रखकर ही प्रसिद्ध साहित्यकार प्रेमचन्द्रजी ने कहानी लिखी ''सवा सेर गेहूँ''। एक निर्धन भूखे ने किसी साहूकार से सवा सेर गेहूँ का कर्ज लिया और उसकी कई पीढ़ियाँ बँधवा मजदूर बनकर रह गई, उस कर्ज को चुकाने में। यह घोर अमानवीय कृत्य है। इस प्रकार की शोषणपूर्ण प्रवृत्ति ने समाज का बहुत नुकसान किया है। ऐसे लोग यह नहीं समझते कि मेरी इस प्रवृत्ति का कोई परिणाम भी होगा या नहीं।

मैंने बचपन में एक कहावत सुनी थी कि ब्याजखोर की तीसरी पीढ़ी कंगाल होती है। मेरे बचपन की घटना है। मैं छोटा था। मेरे पड़ोस में एक मुनीम जी रहते थे। एक जमाने में उनकी बड़ी जमींदारी थी परन्तु आज वे मुनीमि करते फिरते हैं। जहाँ शोषण होगा एक न एक दिन उसका परिणाम भुगतना ही पड़ता है। अतः अनुचित और अनपेक्षित तरीके से कभी भी पैसा कमाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। ऐसे अनेक उदाहरण हैं हमारे सामने, जिन्होंने अनुचित तरीके से ब्याज की दर ली और जीवन का अन्तिम समय पेरालैसिस में महीनों पड़े रहे। कई युवा पीढ़ी के बच्चे मेरे पास आकर कहते हैं कि महाराज! मेरे पिता ने गलत पैसा कमाया और उसका परिणाम हमें भुगतना पड़ रहा है।

अर्थोपार्जन का दूसरा माध्यम है- उद्योग। आज का युग औद्योगिक युग है। देश की अर्थ व्यवस्था को बढ़ाने के लिए नित्य नये-नये उद्योग स्थापित किये जा रहे हैं। एक सद्गृहस्थ को उद्योग के चयन से पूर्व भी सावधानी रखनी चाहिए। जिस उद्योग में अत्यधिक हिंसा की सम्भावना हो, जैसे चर्म उद्योग, मांस उत्पादन, कीटनाशकों का उत्पादन, शराब उद्योग आदि ऐसे उद्योग जिनमें घोर आरम्भ और

हिंसा हो उनसे बचना चाहिए। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-

''बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः''

अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह की आसक्ति नरकायु कर्म के बन्ध का कारण है। अतः बहु-आरम्भी उद्योगों के चयन से बचना चाहिए। एक बार आचार्य गुरुवर ने कहा था कि उद्योग में हिंसा की बात तो समझ में आती है, पर हिंसा का उद्योग करना समझ से परे है। उद्योग में हिंसा होना और हिंसा का उद्योग करना ये दो भिन्न- भिन्न बाते हैं। इनमें काफी अन्तर है।

एक समय था। जब माँ-बाप अपनी सन्तान को गृहस्थ धर्म में प्रवेश के साथ नैतिक और शुद्ध तरीके से व्यापार करने की हिदायत देकर चाबी सौंपते थे। धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थो का सेवन कर व्यवसाय में सदाचार के पालन की प्रेरणा दिया करते थे। लेकिन आज व्यवस्था बिलकुल बदल गई है। आज तो भगवान् महावीर के अनुयायी भी इस प्रकार के उद्योग धन्धे करने लगे हैं, जिसमें घोर हिंसा और अनैतिकता हैं।

बन्धुओं हिंसा के मूल्य पर अर्जित धन से घी से चुपड़ी रोटी खाने की अपेक्षा रुखी-सूखी रोटी को खाकर सन्तोष करना ज्यादा हितकर है। मनुष्य भले ही अनैतिक रूप से पद-प्रतिष्ठा और पैसा प्राप्त कर ले, पर उसका परिणाम तो सदैव भुगतना ही पड़ता है; क्योंकि कोई कर्म बिना भोगे क्षीण नहीं होता है।

आचार्यों ने कृषि कर्म को भी 'सम्यक् आजीविका' माना है। वैज्ञानिक और उन्नत तरीके से किया गया कृषि कार्य श्रावकों को करणीय है; क्योंकि ''काली मिट्टी सफेद पैसा देती है,'' यह धारणा-राजकीय मान्यता ले चुकी है। अस्तु, कृषि आय पर न तो आयकर लगता है और न सेलटेक्स। कृषक-बड़ा धैर्यवान् व सन्तोषी होता है। वह समस्त पूँजी को अन्न के रूप में, बीज के रूप में खेत में डाल देता है और फसल पककर खेत से खलिहान तक और खलिहान से उसके भण्डार तक नहीं आ जाती, वह ईश्वर, धर्म की आस्था पर खड़ा रहता है। हाँ इतना अवश्य है कि कृषि में कीटनाशक दवाईयों का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि कीटनाशकों के प्रयोग के बिना खेती नहीं की जा सकती। फसल नष्ट हो जाती है। मैं उनसे यह कहना चाहता हूँ कि ऐसी बात नहीं है। मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ जिनकी लम्बी चौड़ी खेती है और वे

कीटनाशकों का एक कण भी नहीं डालते। दूसरे आश्चर्य की बात यह है कि उनकी फसल पूरे इलाके में सबसे अच्छी आती है।

हमेशा व्यक्ति को यह याद रखना चाहिए कि केवल उसके द्वारा बोया गया बीज ही नहीं फलता, बल्कि उसका पुण्य भी फलता है। आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज जब गृहस्थ अवस्था में थे तब वे खेती करते थे। कर्नाटक में ज्वार की खेती अधिक होती है। ज्वार के सिट्टों को तोते बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। सभी कृषक उन्हें उड़ाने/भगाने में लगे रहते थे। शान्तिसागर जी महाराज पक्षियों के समूह को देखकर उन्हें भगाने की जगह उनकी तरफ पीठ करके बैठ जाते थे। पक्षियों को पीने के लिए मिट्टी के बर्तनों में पानी भी रख देते थे। जब उनसे पूछा गया कि आप पक्षियों को क्यों नहीं भगाते? तो उन्होंने कहा– ''पक्षी अपने पुण्य का खाते हैं और मैं अपने पुण्य का खाता हूँ।''

आपको सुनकर आश्चर्य होगा–पूरे इलाके में उनकी सबसे अच्छी फसल आती थी। अत: कृषि कार्य में कीटनाशकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

नौकरी करते हुए रिश्वत न लें, जो वेतन प्राप्त होता है, उसी के अनुसार अपनी आवश्यकताओं का बजट बनावें। रिश्वत से अर्जन करना सम्यक् आजीविका नहीं है। यदि वेतन कम है तो अतिरिक्त काम करके अतिरिक्त पैसा कमाया जा सकता है, परन्तु भ्रष्टाचार करके पैसा कमाना सुसंगत नहीं है। बड़े दफ्तरों में भ्रष्टाचार–शिष्टाचार बन गया है। बिना फाईल पर वजन रखे वह खुलती ही नहीं हैं। लोगों की सोच ही बदल गयी। महानगरीय संस्कृति ने वर्ग–भेद की खाई को और विस्तार दिया है। अब साधारण क्लर्क भी अपने बच्चों को उस पब्लिक स्कूल में पढ़ाना चाहता है, जहाँ उसके उच्च अधिकरियों के बच्चे पढ़ते हैं। एक उद्योगपति से मध्यम वर्ग का व्यवसायी समानान्तर जीवन शैली अपनाना चाह रहा है।

अत: व्यक्ति मानसिक तनाव में जीवन जी रहा है।

भोपाल की घटना है। एक सचिवालय के सज्जन मेरे प्रवचनों से प्रभावित होकर एक दिन एकान्त में मुझ से चर्चा करने लगे और प्रायश्चित मुद्रा में यह प्रण करने लगे कि मैं अब भ्रष्टाचार नहीं करूँगा।

मैंने कहा– ''बहुत अच्छी बात है। लेकिन क्या तुम्हारा यह प्रण चल जाएगा? कहने लगे– ''हाँ महाराज! भ्रष्टाचार नहीं करूँगा, परन्तु सुविधा–शुल्क की छूट लेता हूँ।''

मैंने कहा– ''भाई! यह सुविधा–शुल्क क्या होता है? वह बोले–''अब दफ्तर में मैं कोई अनैतिक कार्य नहीं करूँगा, कोई अवैधानिक कार्य नहीं करूँगा, चाहे कोई कितनी ही रिश्वत दे, परन्तु मुझे जो सुविधा–शुल्क प्राप्त होगा, वह स्वीकार कर लूँगा। मैंने कहा कि भ्रष्टाचार का अच्छा विकल्प खोज लिया गया है यह। वह बोला''–नहीं महाराज! ''मैं आपका शिष्य हूँ। गलत कार्य नहीं करूँगा, परन्तु यह सुविधा–शुल्क नहीं छोड़ सकता; क्योंकि मेरा वेतन छह हजार रुपये मात्र है और चार बच्चों की पढ़ाई में दो हजार, मकान किराया दो हजार तथा एक हजार का दूध खर्च है। फिर अन्य खर्च कहाँ से पूरा कर सकता हूँ?''

कोई व्यक्ति तीन घण्टे लाइन में लगकर अपनी फाईल निपटाने के लिए समय और शक्ति खर्च करता है। यदि उससे सुविधा–शुल्क लेकर वह कार्य मैं दस मिनट में कर देता हूँ तो उसके समय व श्रम की कितनी बचत हो जाती है। इसके एवज में वह सौ, पचास रुपये मुझे दे देता है तो मैं उसे भ्रष्टाचार की कोटि में नहीं मानता हूँ। किसी कार्य के लिए वह तीन बार चक्कर लगाये और मैं उसका कार्य प्रथम बार में ही कर देता हूँ तो इस सुविधा का लाभ दोनों को ही प्राप्त होना चाहिए। उसका तर्क विचित्र था, परन्तु मैंने उसकी त्याग–भावना की सकारात्मकता पर सोचा की कम से कम यह गलत और अनैतिक कार्य का तो त्याग कर रहा है, इतना ही श्रेयस्कर है।

सम्यक् आजीविका–हिंसा मुक्त, शोषण मुक्त और अनैतिकता मुक्त होती है। जो इस प्रकार की जीविका का अनुसरण करता है वहीं, संसार में सुखी रहता है। धन्धे के साथ धर्म चलता रहना उनके जीवन में घटित हो सकता है, जो अर्थ से अधिक परमार्थ को महत्त्व देते हैं। हमारे जीवन का इष्ट–साध्य परमार्थ है अर्थ नहीं यह बात भी भाँति सम्यक् आजीविका से जुड़ी हो।

श्रीमद् राजचन्द्र जी के जीवन का एक प्रेरक प्रसंग है। जो सम्यक् आजीविका के आदर्श पितामह माने जाते हैं। एक बार उन्होंने एक व्यापारी से रत्नों का सौदा किया और अनुबन्ध–पत्र लिख दिया गया। लेकिन अचानक बाजार भाव इतना तेज बढ़ गया कि उस व्यापारी को सम्पूर्ण सौदा चुकाने में अपना मकान और दुकान भी बेच दें तो भी सौदा पूरा नहीं हो सकता था। राजचन्द्र उस स्थित को भाँव गये और वे

उस व्यापारी के घर पहुँचे। श्रीमद् राजचन्द्र को आते देखकर व्यापारी बहुत बुरी तरह घबड़ा गया। वह अत्यन्त विनम्रता से उनके सामने खड़ा होकर कहने लगा– ''राजचन्द्र जी! मैं अपने वायदे पर कायम हूँ। आपका सौदा मैँ किसी तरह पूरा करुँगा, भले ही इसके लिए मुझे अपना घर क्यों न बेचना पड़े?''

राजचन्द्र जी ने कहा– ''वह अनुबन्ध पत्र लाओ, मैं उसे देखना चाहता हूँ।'' इस पर व्यापारी चिन्तित होकर उन्हें आश्वस्त करने लगा। जैसे ही राजचन्द्र जी ने एग्रीमेन्ट पेपर को हाथ में लिया फाड़कर चिन्दी–चिन्दी करते हुए कहने लगे– ''राजचन्द्र जैन हैं, वह दूध तो पी सकता है लेकिन खून नहीं पी सकता। हमारे बीच का अनुबन्ध पत्र ही तुम्हें इतना भयभीत किये हुए था, जो नष्ट हो चुका है। अब तुम भूल जाओ कि तुम्हारे और हमारे बीच कोई सौदा हुआ था।''

यह है सम्यग्दृष्टि का एक उदाहरण। जिसने अर्थ से ज्यादा परमार्थ का मूल्यांकन किया। यदि राजमचन्द्रजी के स्थान पर दूसरा व्यक्ति होता तो वह वकील से परामर्श कर उसकी सम्पत्ति कुर्क/जब्त कराने की व्यवस्था करने लगता।

यह उसके ही जीवन में हो सकता है, जिसके मन में पाप–भीरुता हो जो अच्छे बुरे का भेद जानता हो। आज के मनुष्य में पाप–पुण्य, भलाई–बुराई, को भेद समाप्त हो गया है। उसे भगवान् का भी भय नहीं रह गया है। इसीलिये नैतिक और चारित्रिक मूल्य उपेक्षित होने लगे हैं। आर्थिक मूल्य ने सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। आज व्यक्ति जैसे, तैसे, कैसे भी पैसे कमाने के प्रयास में जुटा हैं। आज जीविका बहुत जरुरी हो गयी है। जीवन और जीविका के बीच का भेद समाप्त हो रहा है। आज तो हर व्यक्ति को इस बात की चिन्ता है कि जीविका अच्छी हो और जीवन अच्छा हो, इस बात की फिकर सम्भवतः बहुत कम लोगों को है। इस परिस्थिति में एक व्यावसायिक मनोवृत्ति का विकास हुआ है।

मैंने ऐसा सुना–एक व्यवसायी मृत्यु के उपरान्त यमराज के पास पहुँचा। यमराज ने उसका लेखा–जोखा देखकर पूछा–''तुम कहाँ जाना चाहते हो–स्वर्ग में या नरक में? व्यवसायी बोला–''हुजुर! जहाँ दो पैसे पैदा हो।''

मुझे स्वर्ग–नरक से मतलब नहीं है, इस मनोवृत्ति का विकास, जीवन विकास की सबसे बड़ी बाधा है। पदार्थ और पैसो की होड़ इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। इस मनोवृत्ति ने न जाने कितनी और भी समस्याएँ पैदा की है। आज आवश्यकता है

पाप–भीरुता अपनाने की। हम स्वीकारें या नहीं, यह तय है कि हमारी अच्छी बुरी प्रवृत्ति का परिणाम हमें स्वयं भुगतना ही पड़ा है। आज नहीं तो कल, यह हमें भोगना ही पड़ेगा। मनुष्य नीति–न्याय, का विचार किये बिना, उचित–अनुचित तरीके से पूरे जीवन धन जोड़ता है, पर अन्त में उसे सबकुछ छोड़कर जाना पड़ता है। धन पैसा सब यहीं छूट जाता है। पर उसके साथ जोड़ा गया पाप सदैव उसका पीछा करता है। अतः जो छूटने वाला है, हमारे साथ नहीं जाता, उसके पीछे अतिरिक्त पाप करना बुद्धिमानी नहीं है। इस तथ्य को समझें तथा जीवन और जीविका के मध्य भेद रेखा खींचे, जिससे जीविका के साथ जीवन मूल्य भी सुरक्षित रह सके। तभी तुम्हारी जीविका सम्यक् आजीविका की श्रेणी में आ सकेगी।

★★★

सुचरित्र का आधार, सम्यक् संस्कार

धरती पर बीज बोते हैं, वह अंकुरित होता है, पल्लवित व पुष्पित होता है, उसमें फूल और फल लगते हैं, तब वह बीज सार्थक हो पाता है। बीज की सार्थकता उसके वृष के रूप में परिणत होने में है। मनुष्य जीवन की सार्थकता मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में है। जिस मनुष्य का जीवन मानवीय मूल्यों से नहीं जुड़ा, वह कभी भी सार्थक और सफल नहीं हो सकता। जैसे-धरती पर बोये गये बीज को वृक्ष के रूप में विकसित करने के लिए समय-समय पर खाद-पानी देना, उसे इर्द-गिर्द उग आए खर-पतवारों की निदाई-गुढ़ाई करना तथा पशु-पक्षियों से उसकी रक्षा करना जरूरी है, वैसे ही जीवन-मूल्यों के पल्लवन और विकास के लिए सतत सावधानी और जागरुकता अपेक्षित है।

जीवन के विकास का आधार चरित्र है। चरित्र का विकास ही जीवन का विकास है। जीवन के निर्माण के लिए चरित्र का निर्माण जरूरी है। मनुष्य के चरित्र का निर्माण उसके अच्छे-बुरे संस्कारों पर निर्भर करता है। जैसे उत्तम भूमि पर बोया गया बीज अधिक फलवान् होता है, वैसे ही सुसंस्कारित मुनष्य के जीवन में चारित्रिक गुणों का विकास होता है।

धरती पर जन्म लेने वाले प्रत्येक शिशु में अपार संभावनाएँ हैं। उनकी अभिव्यक्ति उसके जीवन के परिवेश और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। वह अपने जीवन को अच्छा भी बना सकता है और बुरा भी। जीवन मिट्टी के लौंधे की तरह है, उसे मंगलकलश भी बनाया जा सकता है और शराब की कुल्हड़ भी। जीवन तो खुला मैदान है, इस पर महल भी बनाया जा सकता है और झौपड़ पट्टी भी। जीवन कोरा कागज है, इस पर गीत भी लिखा जा सकता है और रुदन भी। हम अपने उज्जवल चरित्र के बल पर उस पर सुन्दर चित्र का अंकन भी कर सकते हैं और अपने

स्याह आचरण से पूरे पृष्ठ को कलंकित भी कर सकते हैं। यह सब हमारे चिन्तन, सोच और जीवन शैली पर निर्भर है। हम अपने जीवन को जिस ओर ढालेंगे, जीवन तदनुरूप हो जायेगा। हमारा जीवन हमारे चरित्र पर निर्भर करता है।

चरित्र क्या है? चरित्र-मनुष्य की भावनाओं और प्रवृत्तियों का समूह है। हमारे मन में जैसी भावनाएँ उभरती हैं तथा जैसी हमारी प्रवृत्ति होती है उसकी छाप हमारे मन पर पड़े बिना नहीं रहती। अच्छी भावनाओं का हमारे मन पर अच्छा असर पड़ता है। उससे अच्छे संस्कार बनते हैं तथा बुरी भावनाओं और प्रवृत्तियों से हमारे मन पर बुरे संस्कार पड़ते हैं। उन्हीं शुभाशुभ संस्कारों से हमारे चरित्र का निर्माण होता है।

दूसरे शब्दों में कहें तो शुभ संस्कारों की प्रबलता से व्यक्ति का चरित्र अच्छा बनता है तथा अशुभ संस्कारों की अधिकता के कारण चरित्र बुरा बनता है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की तरह हमारे जीवन के दो पक्ष हैं। अच्छाई-बुराई, शुभ-अशुभ। अहिंसा, करुणा, प्रेम, दया और आत्मीयता के संस्कार वे शुभ संस्कार हैं जो आत्मा के दैवीय गुणों की अभिव्यक्ति करते हैं। इनकी अभिव्यक्ति से शुक्लपक्ष की चन्द्र कलाओं की तरह आत्म शक्तियाँ निरन्तर वृद्धिंगत होती रहती है। इसके विपरीत हिंसा, क्रूरता, शोषण, पाप, अनाचार आदि ऐसी आसुरी वृत्तियाँ हैं जो कृष्ण पक्ष की कालिमा की तरह हमारी आत्मा में कालिमा भरती हैं। दोनों प्रकार की वृत्तियाँ हमारे चित्त में हैं। उनका पल्लवन हमारी जीवन शैली पर निर्भर करता है।

अच्छाई और बुराई, धर्म और अधर्म, शुभ और अशुभ सब हमारे जीवन के रूप हैं। यह हम पर है कि हम अपने जीवन के किस रूप को प्रमुखता दे रहे हैं।

प्रश्न उठता है कि-सब कुछ जानने-समझने के बाद भी हमारा आचरण धर्मानुकूल क्यों नही होता? उसे स्वीकार क्यों नहीं करते? जीवन में कथनी और करनी का फासला क्यों हैं?

मेरी समझ में इन सबका प्रमुख कारण है- पाप-भीरुता का अभाव। आप मनुष्य के मन में पाप के प्रति जो भीति होनी चाहिए वह नहीं हैं। इसके कारण धर्म-अधर्म का विवेक नष्ट हो गया है। मनुष्य स्वेच्छाचारी हो गया है, उसकी प्रवृत्ति

निरंकुश हो गई है। इसी निरंकुशता के कारण आज चरित्र हीनता और मूल्य हीनता का संकट मंडरा रहा है। इसी कारण अच्छे संस्कार विलुप्त होते जा रहे हैं। बढ़ती हुई उपभोक्तावादी सोच ने हमारे दिल और दिमाग को खोखला कर दिया है। पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण ने हमारी सोच को विकृत कर दिया है, परिणामतः सम्यक् संस्कारों का टोटा उत्पन्न हो गया है। बाहर से व्यक्ति कितना ही खुश दिखें परन्तु भीतर से मन अशान्त है। तनाव और कुंठा में जी रही है आज की नई पीढ़ी जीवन को एक बोझ की भाँति ढ़ो रही है।

जीवन का विकास बाह्य संसाधनों से नहीं, चरित्र के विकास से ही सम्भव है क्योंकि चरित्र जीवन की मूल सम्पदा है। चरित्र का विकास और ह्रास हमारे जीवन के विकास और ह्रास का मूल आधार है। आज 'जीवन स्तर' बढ़ाने या लिविंग स्टेण्डर को मेनटेन करने के नाम पर स्तरहीन फैशन को अपनाया जा रहा है। अश्लीलता और विकृतियों को अंगीकार किया जा रहा है। इसका सीधा असर हमारे चरित्र पर पड़ रहा है।

पाप भीरुता सुचरित्र का आधार है। आज लोगों में पाप-पुण्य का भेद समाप्त होता जा रहा है। 'जैसी करनी वैसी भरनी' के सिद्धान्त को अनदेखा किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में अच्छे संस्कारों का समारोपण कैसे हो? सन्त कहते हैं-हमारी प्रवृत्ति से संस्कारों का निर्माण होता है। अच्छी प्रवृत्ति से अच्छा और बुरी प्रवृत्ति से बुरा परिणाम सुनिश्चित है। जैसे मैं यहाँ प्रवचन में जो बोल रहा हूँ, वह सब आपके टेपरिकॉर्ड में अंकित हो रहा है। यदि परमात्मा के गीत गाऊँ, तो वह भी रिकार्ड होगा और गाली दूँ तो वह भी उसमें रिकॉर्ड हो जायेगी। जब भी आप उसे प्ले करोगे, वही सुन सकोगे जो उसमें रिकॉर्ड है। दिखाई तुम्हें कुछ नहीं देगा।

ठीक इसी प्रकार जैसी हमारी प्रवृत्ति होती है कर्म के वैसे की संस्कार हमारी आत्मा से चिपक जाते हैं। भले ही वे दिखाई नहीं पड़ते, परन्तु उसके परिणाम जीवन में अवश्य सुलक्षित होते हैं। बाहर के टेपरिकॉर्ड में तो यह भी हो सकता है कि जिसे न सुनना चाहते हों उसे आगे बढ़ाकर पसन्द की चीज सुन सकते हैं। पूरी की पूरी कैसिट का ध्वनि अंकन डिलीट करने की भी उसमें पूरी व्यवस्था है, परन्तु भीतर के टेप में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। उसमें तो तुम्हें वही सुनना पड़ेगा, जो अंकित

किया है। लाख रोएँ, आरजू मिन्नत करें, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

इस भावबोध की आवश्यकता है। कर्म सिद्धान्त पर आस्था जमाए बिना धार्मिकता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। कर्म सिद्धान्त की आस्था हमारी धार्मिकता की नींव है। आज की नई पीढ़ी को हमें इस सिद्धात्त पर दृढ़ करने की आवश्यकता और अपेक्षा है। ध्यान रखें, अच्छाई करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है और बुराईयाँ अनायास ही इकट्ठी हो जाती है। बुरे संस्कार तो जन्म-जन्मान्तरों से छाये हुए हैं, परन्तु अच्छे संस्कारों को पुरुषार्थ करके जागृत करना पड़ता है। फलदार वृक्ष लगाने के लिए वर्षों श्रम करना पड़ता है, लेकिन बेशर्म के झाड़ तो अनायास ही खड़े हो जाते हैं। बिना किसी, श्रम, प्रयास के बेशर्म के पौधे उग जाते हैं। शायद इसलिए उनका नाम बेशरम पड़ गया है।

बुराईयाँ हमारी चेतना की भूमि पर बेशर्म के पौधें की भाँति उगती जा रही है। चित्त की भूमि बेशर्म के पौधों से भरी पड़ी है। मैं चाहता हूँ उन पौधों को उखाड़कर फैंका जाए। बेशर्म के पौधे को कितनी ही बार काट दो वह पुनः अंकुरित हो जाता है, जब तक कि उसे जड़ से नहीं उखाड़ दिया जाए। इतना ही नहीं जड़ से उखाड़ने के बाद उसमें खट्टा मट्टा/तक्र भी डाला जाए ताकि दुबारा वह उग न सके। बुराई एक बेशरम का पौधा है। एक बार लग जाए तो बिना पानी खाद के हरा भरा बना रहता है। उसे नष्ट करने के लिए श्रम करना पड़ता है। बुराई को हटाने के लिए बहुत आत्म पुरुषार्थ करना पड़ता है। अच्छाई का बीज डालकर उसे अंकुरित करने के लिए और उस अंकुरण को वृक्ष बनाने के लिए भी वैसा ही श्रम करना पड़ता है। जैसे बुराई को हटाने के लिए।

सम्यक् संस्कारों का समारोपण हो उसके पूर्व चित्त में छाए बुराईयों के विषांकुर पूरी तरह साफ हो जाना चाहिए। हमारी चेतना की भूमि पर पाप के पौधे नहीं उगने चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता, जब सुविधावादी दृष्टिकोण से ऊपर उठ सके। पाप भीरु बने रहने की बात हम पहले भी कह चुके हैं। इससे हम किसी भी कार्य को करने से पहले पुण्य-पाप की बात सोचकर करेंगे। पाप-भीरुता होने से हम जो बिना सोचे समझे छोटे बड़े कृत्य कर बैठते हैं, उससे बचेंगे। अपसंस्कृतियों के अंधाधुंध प्रसार से तथा मलटी चैनल आज जो परोस रहे हैं, उससे संस्कारों का

कुठाराघात हो रहा है। बच्चों की शिक्षा का स्वरूप ही उलट-पुलट गया है। घरों में ऐसा परिवेश टी.वी. और इन्टरनेट के माया-जाल ने उत्पन्न कर दिया है कि बड़े बुजुर्ग और बच्चों के बीच का फासला समाप्त हो गया है। न्यूजपेपर में समाचार पढ़ा कि एक नौ वर्ष की नन्हीं बालिका-जो शरीर में बड़े उम्र की लड़कियों की भाँति दीखने लगी, अपने मित्र बालकों के साथ ब्लू फिल्म देखने गयी। वहीं से उसका अपहरण, बलात्कार और अन्त में उसकी हत्या हो गयी। यह सब क्या है? संस्कारों का खोखलापन। आप के किशोर-किशोरियों में जो दुष्कृत्यों का दानवी रूप उग रहा है, उससे इक्कीसवी सदी भयाक्रांत है।

अभिजात्य परिवारों में बीयर कोल्ड ड्रिंक की भाँति लिया जाने लगा है, जो पूर्वजों की स्वस्थ नैतिक परम्पराओं का मखौल और परिहास बनकर सम्यक् संस्कारों की अन्तिम विदाई के लिए मानसिक रूप से तैयार बैठी है।

ऐसे संक्रमण काल में बच्चों को संस्कार देने की बड़ी जरूरत है। संस्कार तो शिशु माँ के गर्भ से ही ग्रहण करने लगता है। माँ-बाप के आचरणों से बच्चा संस्कारों का प्रथम पाठ सीखता है।

अच्छे संस्कारों का समारोपण अच्छे परिवार में ही सम्भव है। तुम्हारें घर में जन्म लेने वाला शिशु तो एक धातु की तरह है, उसे जिस साँचें में ढालो, ढ़ल जाएगा। परिवार संस्कार गढ़ने की टकसाल है। बाल-मनोवैज्ञानिक कहते हैँ-बच्चे अनुकरण प्रिय होते हैं, वे जैसा देखते हैं वैसा सीख जाते हैं। आस-पास के परिवेश और परिस्थितियों का उनके मन पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। अगर अपने बच्चों को अच्छा संस्कार देना चाहते हो तो सबसे पहले स्वयं को संस्कारित करने का प्रयत्न करें। जो स्वयं झूठ बोलता हो वह अपने बेटों पर सत्य बोलने के संस्कार कैसे डाल सकता है? जिनकी स्वयं ही नैतिक मूल्यों पर आस्था न हो, उनकी संतान नैतिक और सदाचारी कैसे बन सकती है? एक ओर उसे नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाए दूसरी ओर अनैतिकता पूर्ण व्यवहार देखने वाले बालक पर नैतिकता का प्रभाव आखिर कैसे पड़ेगा? आज के युग में धार्मिक शिक्षा और पारिवारिक पृष्टिभूमि में बहुत अन्तर आ गया है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध साहित्यकार यशपाल जैन ने एक बड़ा रोचक प्रसंग लिखा है, जो आज की शिक्षा पद्धति और जीवन व्यवहार के अन्तर को

रेखांकित करता है।

एक बच्चा स्कूल में दाखिल हुआ। गुरुजी ने पढ़ाया ''सदा सत्य बोलना चाहिए।'' बेटा घर आया। मकान मालिक किराया वसूलने घर आया। ''पूछा पिताजी कहाँ हैं?'' बेटा भीतर गया। पिता से पूछा! पिता ने कहा कि जाओ उनसे कर दो पिताजी घर पर नहीं है।

दूसरे दिन स्कूल में पढ़ाया गया 'सब जीवों से प्रेम करना चाहिए।' बेटा घर आया। देखता क्या है! उसके माँ-पिता आपस में झगड़ रहे हैं।

तीसरे दिन स्कूल में पढ़ाया गया-कभी किसी को मत सताओ।

बेटा घर लौटा तो देखा कि उसका बड़ा भाई एक अपंग भिखारी को डंडों से पीटकर खदेड़ रहा है।

चौथे दिन बेटे से जब स्कूल जाने के लिए कहा गया तो बेटे ने कहा ''पिताजी! मैं स्कूल नहीं जाऊँगा; क्योंकि गुरुजी ठीक नहीं पढ़ाते हैं।''

बड़ा यर्थाथ चित्रण है-आज के मनुष्य के कथनी और करनी के अन्तर का। आज मनुष्य का ज्ञान बढ़ा है, पर संस्कार घटे हैं। पहले के लोग पढ़े लिखे कम, पर समझदार अधिक होते थे, पर आज के लोग पढ़े लिखें अधिक समझदार कम होते हैं। संत कहते हैं-सही समझ अच्छे संस्कारों की ही उपज है। आज के उच्चशिक्षा प्राप्त लोगों में भी जो मानवीय भावना परिलक्षित होनी चाहिए, वह दिखाई नहीं पड़ती; क्योंकि आज अर्थ को ही महत्व दिया जाने लगा है। सन्त कहते हैं-मनुष्य को केवल शिक्षित ही नहीं संस्कारित होना भी आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप, तकनीकी और बौद्धिक विकास तो बहुत हुआ है, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। मात्र शारीरिक, बौद्धिक और तकनीकी विकास ही जीवन का परिपूर्ण विकास नहीं है। जीवन के परिपूर्ण विकास के लिए इनके साथ-साथ नैतिक, चारित्रिक और भावनात्मक विकास भी जरूरी है। तभी मनुष्य का परिपूर्ण विकास हो सकेगा।

नैतिक, चारित्रिक और भावनात्मक विकास के लिए बच्चों में धार्मिक शिक्षा संस्कार जरूरी है। आज माँ-बाप अपने बच्चों को जितनी तत्परता से स्कूल में भेजते

हैं, उन्हें मन्दिर और पाठशाला भेजने में उनकी उतनी अभिरुचि दिखाई नहीं पड़ती। परिणामत: स्कूली शिक्षा से परिपूर्ण होने के बाद भी धार्मिक संस्कारों से शुन्य रह जाते हैं। जिस पापभीरुता की बात की जाती है, जब तक उसका भावबोध न हो व्यक्ति आखिर उससे बचेगा कैसे?

आज के परिवेश में धार्मिक संस्कारों की बड़ी महती आवश्यकता है। एक बार एक सज्जन ने जो पेशे से डॉक्टर थे। मुझसे कहा-''महाराज श्री जब मैं पढ़ता था, तो मेरे पिता ये सोचते थे कि मेरा बेटा कुछ बन जाए। आज मेरा बेटा पढ़ रहा है, तो मैं सोचता हूँ, कम से कम मेरा बेटा बिगड़े नहीं।''

एक पीढ़ी के बदलाव में इतना अन्तर! यह हकीकत है। बनने की कम बिगड़ने की सम्भावना अधिक प्रबल हो चली है।

ऐसी विषम परिस्थिति में माँ-बाप को अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक सावधान और सचेत रहने की आवश्यकता है। उनके व्यवहार का बच्चों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। गर्भ से ही बच्चों पर माँ बाप की भावनाओं का असर पड़ने लगता है। महाभारत के अर्जुन द्वारा सुभद्रा को चक्रव्यूह के भेदन की शिक्षा का प्रसंग हमें विस्मृत नहीं करना चाहिए। अभिमन्यु ने गर्भावस्था में ही चक्रव्यूह के भेदन की कला सीखी थी। आज के वैज्ञानिक युग में यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि गर्भावस्था में ही माँ के पेट में पलने वाले शिशु का अपनी माँ से बड़ा गहरा संवाद जुड़ा होता है। इसी कारण आज के वैज्ञानिक उस अवस्था में माताओं को विशेष प्रकार की सावधानी बरतने का परामर्श देते हैं। जैन शास्त्रों में भी संस्कारों की रक्षा के लिए गर्भ से लेकर निर्वाण तक की विशेष क्रियाओं का उल्लेख है। यदि आज का मनुष्य गर्भान्वय, कर्त्रान्वय और दीक्षान्वय क्रियाओं के नाम से उल्लिखित उन क्रियाओं का पालन करे, तो वे भी सुयोग्य/संस्कारित सन्तानों को जन्म देने का श्रेय प्राप्त कर सकते हैं।

आप लोग पंच कल्याणकों में देखते हैं कि भगवान् के गर्भकल्याणक में देवियाँ आती है। कहा जाता है कि वे गर्भ की रक्षा करती है। अरे! देवियाँ भगवान् के गर्भ की रक्षा क्या करेंगी? भगवान् के गर्भ को कभी कोई खतरा हो सकता है? मेरा

मानना है कि देवियाँ भगवान् के गर्भ की रक्षा के लिए नहीं, संस्कारों की सुरक्षा के लिए आती है। तीर्थंकर भगवान् की माता गर्भावस्था के पूरे नौ माह धर्म-ध्यान और शुभ विचारों के साथ बिताती है। देवियाँ इस बात की सावधानी रखती है कि इस अवधि में माँ के मन में कोई खिन्नता न आने पावे। माँ का मन धर्म और अध्यात्म में लगा रहे, ताकि उनके पेट में पलने वाले अध्यात्म व धर्म प्रर्वतक के अच्छी संस्कार विकसित होते रहे। ऐसा केवल इसलिए किया जाता है कि माँ की भावनाओं का पेट में पलने वाले शिशु पर बड़ा असर पड़ता है। अत: आज की माताओं को गर्भवती अवस्था में उन तमाम परिस्थितियों से बचना चाहिए जिनका चित्त पर विपरीत असर पड़ता है। आज के वैज्ञानिक भी गर्भवती महिलाओं को टी.वी. से परहेज करने की सलाह देते हैं; क्योंकि उससे निकलने वाली किरणों का गर्भस्थ शिशु पर बड़ा प्रतिकूल असर पड़ता है।

यदि प्रारम्भ से ही बच्चों के संस्कारों के प्रति सावधानी रखी जाए तो इन नौनिहालों का जीवन निहाल हो सकता है। एक बार एक माँ अपने चार वर्ष के बच्चे को लेकर किसी सन्त के पास पहुँची। उसने निवेदन किया कि गुरुजी मेरे बच्चे को संस्कारित करे। सन्त ने कहा कि आप चार वर्ष नौ माह देर से आई हो। अब तक तो इस पर बहुत सारे संस्कार पड़ चुके हैं। जिनका पल्लवन भविष्य में होगा। गीली मिट्टी को चाहे जैसा आकार दिया जा सकता है, उसके सूख जाने पर नहीं।

आचार्य कुन्द-कुन्द देव का कथानक प्रसिद्ध है। उनकी माँ ने गर्भावस्था में ही उन्हें आध्यात्मिक चिन्तनधारा से अभिषिक्त किया था। इतना ही नहीं, नवजात शिशु को पालने में झुलाते हुए यह गीत पढ़ती/गाती थी- ''**शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसार माया विनिर्गतोऽसि।**'' और उन्हें सुलाया करती थी। धन्य है वह माँ जिसने वैराग्य के संस्कार अपने गर्भस्थ शिशु को स्वयं के वैदुष्य पूर्ण ज्ञान और भक्ति से परिपूर्ण आचरण से दिये।

ग्यारह वर्ष का वह लोकोत्तर बालक कुन्दकुन्द वीतराग के पूंजीभूत संस्कारों से अनुप्रमाणित होकर इस अल्पवय में ही राग के चक्रव्यूह को भेदकर श्रमण साधना का महान् आश्चर्य हुआ। घुट्टी से पिलाये गये संस्कारों ने उसके बेटे को एक महान् अध्यात्म प्रवर्तक बना दिया। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यह सब माँ के संस्कारों का सुफल है। माँ तो ऐसी ही होनी चाहिए। एक माँ थी मंदालसा जिसने अपने पुत्रों में वैरागय के बीज बोये थे। दूसरी थी शकुन्तला जिसने अपने पुत्र भरत को चार वर्ष के अवस्था में ही शेर की दाँत गिनने सिखा दिये थे।

संस्कारों को गढ़ने में सबसे बड़ी भूमिका माँ की होती है। एक माँ अपने बेटे को जो संस्कार दे सकती है, संसार में कोई नहीं दे सकता। पांडव और कौरव एक ही कुल के थे। पर दोनों के संस्कारों में जमीन आसमान का अन्तर था। इसका कारण पता है? मेरी समझ में इसका सबसे बड़ा कारण है- माँ की दृष्टि। पाण्डवों को सदैव माँ की वात्सल्यमयी संस्कार मिला। वनवास काल में भी वे माँ की दृष्टि से दूर नहीं हुए। दूसरी तरफ अनुपम सती होने के बाद भी गांधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली। अपने बच्चों पर उसकी दृष्टि ही नहीं पड़ी। संस्कार कहाँ से आते? कौरव मानव होकर भी मानव नहीं कहला सकें जबकि पाण्डव मानवता के आदर्श बन गये।

यह माँ की भूमिका है। जिस शिशु को माँ का प्यार और संस्कार नहीं मिलता, वह कभी भी सुसंस्कारित नहीं हो सकता। उसमें अपराधवृत्ति बढ़ जाती है। मैंने एक शोधालेख पढ़ा। उसमें बताया है कि दुनियाँ में सबसे ज्यादा अपराध फ्रांस में होते है। उसके कारणों का विश्लेषण करते हुए उसमें बताया कि उसका मूल कारण यह है कि वहाँ सबसे अधिक अवैध संतान जन्म लेती हैं। उनका लालन-पालन अनाथालयों में होता है। वहाँ सुख साधनों के मध्य रहने से उनके मस्तिष्क का विकास तो हो जाता है, पर माँ के प्यार से वंचित रहने के कारण उनका भावात्मक विकास नहीं हो पाता। इसी कारण वे क्रूर और क्रोधी बन जाते हैं। उनमें अपराध वृत्ति पनप जाती है।

माँ को अपने बच्चे के पालन में अत्यधिक सावधानी रखनी चाहिए। जिस शिशु की अपनी माँ से जितनी नजदीकी होगी, वह उतना ही अधिक संस्कारित होगा। शास्त्रों में संतान के पालन के विषय में परामर्श देते हुए कहा गया है-

लालयेत् चतुवर्षाणि दशवर्षाणि ताड़येत्।
जायते तु षोडसे वर्षे मित्रवत् समाचरेत्॥

अपनी संतान को चार वर्षों तक लाड़-प्यार में रखना चाहिए। बच्चों का मन बड़ा सुकोमल होता है। उस पर आघात नहीं पहुँचना चाहिए। जब बच्चों के मन पर

आघात पहुँचता है, तब उनका मानसिक विकास अवरुद्ध होने लगता है। उनके मन में अनेक प्रकार की कुंठाएँ बन जाती है, जो कि कालान्तर में अभिव्यक्त होती है। छोटे बच्चों के साथ अधिक मारपीट या निर्मम व्यवहार उनके भविष्य के साथ एक बड़ा खिलवाड़ है। आगे कहा है-पाँचवें वर्ष से पंद्रहवें वर्ष तक बच्चे को पूर्ण नियंत्रण में रखना चाहिए। फिर सोलह वर्ष का हो जाने के बाद उसे पुत्र नहीं मित्र मानना चाहिए।

आजकल उलटा होता है। छोटी अवस्था में माँ-बाप जब काम करने में परेशानी महसूस करने लगते हैं, बच्चे जब अधिक ऊधम करने लगते हैं तो उनकी पिटाई कर देते हैं। यह ठीक नहीं है। अरे बच्चे ऊधम नहीं करेंगे तो कौन करेगा? बचपन है ही इसी के लिए। कई बार लोग अपने बच्चों की हरकतों से तंग आकर कहते हैं, महाराज बेटा बड़ा शैतान है। अरे! तुम्हारा बेटा और शैतान--? यदि बेटा शैतान है, तो बाप क्या है? बेटा उधमी, नटखट और शरारती हो सकता है, पर शैतान नहीं। अपने बच्चों के साथ इस तरह के शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिए।

माताओं को यह सोचना चाहिए कि वे अपने बच्चों को किस प्रकार अच्छे संस्कार दे सकती हैं? एक बार एक माँ अपने बच्चे के साथ आयी और कहने लगी- महाराज को नमोस्तु करो, नहीं तो महाराज जी गुस्सा हो जाएँगे। उस अबोध बालक से कितनी चूक भरी बातें कर रही है? बालक सोचता है-जैसे मम्मी-पापा गुस्सा होते हैं, वैसे महाराज भी होते हैं। उसके दिमाग में यह बात बैठ जाती है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। महाराज जी भी साधारण मनुष्य की भाँति ही है। बड़ा होने पर जब किसी गुस्सा करने वाले महाराज के पास पहुँचेगा तो हमेशा के लिए मुनियों की छाया से दूर हो जाएगा। माताओं को उस समय अपने बच्चों को यह भावबोध कराना चाहिए कि मुनिराज असाधारण व्यक्ति होते है। वे क्रोध, लोभ, मोह आदि मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठे रहते हैं। जब बच्चे के मन-मस्तिष्क में यह बात बैठ जायेगी तो गाँव में मुनिराजों के आने पर किसी माँ को अपने बेटे से यह कहने की जरूरत नहीं पड़ेगी कि बेटे, जाओं महाराज के दर्शन करके आओ या प्रवचन सुनकर आओ।

लोग कई बार अपने बच्चों के सामने ही उत्तरदायित्व विहीन व्यवहार करने लगते हैं, उस समय वे नहीं सोचते कि इसका बच्चों पर क्या असर पड़ेगा? अभी

कुछ वर्ष पहले अमेरिका में घटी घटना से हम सीख लेनी चाहिए। वहाँ एक तीन वर्ष के बेटे ने अपने पिता के रिवाल्वर से अपने ही परिवार के तीन लोगों की हत्या कर दी। गलती उस बालक की नहीं, उसके माँ-बाप की है। बेटा तो अबोध था। उसने अपने पिता के तमंचे को खिलौना समझा और यह दुष्कृत्य कर बैठा। वह समझ नहीं सका कि वह क्या कर रहा है? आजकल के खिलौने भी कुछ इसी तरह के आने लगे हैं। संस्कार हीनता का एक कारण बच्चों के खेल खिलौने भी बन गये हैं। अपने बच्चों को हिंसक खेल खिलौनों से बचाना चाहिए। एक बार मैंने समाचार पत्र में पढ़ा कि बच्चों में वीडियागेम के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण उन्हें अत्यधिक हिंसक और क्रूर बना देता है। प्रायः उसमें इसी प्रकार के खेल होते हैं।

जिन बच्चों को माँ-बाप का प्यार और सही संस्कार मिलता है, वे कभी भी अपने माँ-बाप की इच्छा के विरूद्ध कोई कार्य नहीं करते। आशुतोष मुखर्जी जब कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे, तो उन्हें एक बार विदेश जाने का अवसर मिला। वे स्वयं उत्सुक होकर अपनी माता से विदेश जाने की आज्ञा लेने गये। माँ धार्मिक विचारों से ओत-प्रोत थी। उन्होंने उन्हें विदेश जाने की आज्ञा नहीं दी। मातृभक्त मुखर्जी ने उसी समय विदेश जाने का विचार त्याग दिया।

उस समय भारत के गवर्नर लार्ड कर्जन थें। जब उन्हें मालूम हुआ तो उन्होंने आशुतोष मुखर्जी को बुलाकर कहा-''आपको विदेश जाना चाहिए।'' मुखर्जी ने कहा- ''सर मेरी माँ की इच्छा नहीं है।''

''जाकर अपनी माँ से कहिए कि भारत के गवर्नर जनरल आपको विदेश जाने का आदेश दे रहे हैं।'' लार्ड कर्जन ने कुछ रुखे स्वर में कहा।

मातृ गौरव से दीप्त मुखर्जी ने कहा- ''मैं गवर्नर जनरल से निवेदन करता हूँ कि माता की आज्ञा का उल्लंघन करके मैं किसी की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता। चाहे वह दूसरा व्यक्ति भारत का गवर्नर जनरल भी क्यों न हो।''

ऐसे माता-पिता के भक्त और धार्मिक संस्कारों से ओत-प्रोत पुत्र हो, तभी पुत्र का होना सार्थक है। अन्यथा ''**कोऽर्थः पुत्रेन जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ॥**''

जब मैं भोपाल में था, तब तत्कालीन चुनाव आयुक्त श्री टी.एन. शेषन, एक

कार्यक्रम में रवीन्द्र भवन में व्याख्यान देने आएँ थे। उन्होंने एक बहुत अच्छी बात कहीं थी। लोग देश में भ्रष्टाचार को दूर करना चाहते हैं तो मैं गारन्टी से कहता हूँ कि आज से बीस वर्ष बाद भ्रष्टाचार, इस देश से पूरी तरह दूर किया जा सकता है। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या कह रहे हैं शेषन साहब? आज से बीस वर्ष बाद!

सही है- आज पैदा होने वाले बच्चे को अच्छे संस्कार देने शुरु कर दें तो बीस वर्ष बाद, आज की संस्कारित पीढ़ी होगी। फिर भ्रष्टाचार अपने आप दूर हो जायेगा। लेकिन हम ऐसा चाहते हैं कहाँ? हम तो ऐसा बेटा चाहते है जो ब्लैक की गैस सिलेण्डर ले आये, नम्बर दो के काम में होशियार हो। ऐसे ही बेटे की पीठ थपथपाओगे, तो फिर वह धर्म से कैसे जुड़ पायेगा? यह सब आपको चिन्तन करने की जरूरत है। ज्यादा सार्टकट या सुविधा जनक रास्ता तुम्हारे जीवन की दुविधा को दूर नहीं कर पायेगा।

★★★

सात्विक आहार, सुख का आधार

शरीर और जीवन का एक दूसरे से गहरा सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना दोनों अधूरे हैं। जीवन के अभाव में शरीर 'मूर्दा' कहलाता है और शरीर के अभाव में जीवन 'प्रेत' माना जाता है। जब तक शरीर जीवन से जुड़ा है, तभी तक जीवन की स्थिरता, उपयोगिता और महत्ता है। अत: जीवन के संरक्षण के लिए शरीर का सम्पोषण भी जरुरी है। कहा गया है-

'अन्नमूलं बलं पुंसां बल मूलं हि जीवनम्'

जीवन का आधार-बल/प्राण है और प्राणों का आधार है- अन्न/आहार। जैसे गाड़ी को चलाने के लिए ईधन की आवश्यकता है, वैसे ही शरीर को चलाने के लिये भोजन की भी आवश्यकता है।

हमारे आचार्यों ने इस सन्दर्भ में भी हमें बड़ा अच्छा परामर्श दिया है। उन्होंने एक ओर जहाँ अध्यात्म की साधना के लिए ज्ञान और योग का उपदेश दिया है, वहीं दूसरी ओर हमारे खान-पान और आहार की शुद्धि पर भी जोर दिया है। इसीलिए हमारे यहाँ तो कहावत ही बन पड़ी है-

'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन'
जैसा पीवे पानी, वैसी होवे वाणी॥

भोजन का हमारे मन और विचारों पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है उसकी विचार धारा वैसी बन जाती है। अब वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं कि सात्विक आहार से सात्विक विचार बनते हैं।

तर्जीनिया के चोसांपीक सेंटर ने बालकों के चारित्रिक विकास में अवरुद्धता के लिए उसकी माँ को दोषी बताया है, जिसने गर्भकाल में उत्तेजक आहार का सेवन किया। विनम्र व्यक्तित्व वाले लोगों को उत्तेजक आहार देकर स्वभाव बदलते और सात्विक आहार से अपराधियों को सज्जनता अपनाते देखा गया है। बचपन से ही अपराधवृत्ति की ओर जाने वाले बालकों के पीछे मुख्य कारण उनका उत्तेजक आहार या मादक पदार्थ है जो उनके सामाजिक, बौद्धिक और चारित्रिक विकास को अवरूद्ध करता है। धर्माराधना के लिए विचारों की सात्विकता आवश्यक है। विचार में सात्विकता सात्विक आहार से ही सम्भव है।

जो व्यक्ति शुद्ध-सात्विक भोजन करते हैं, उनके विचार भी अत्यन्त सात्विक होते हैं। जिनके भोजन में तामसिक चीजों की बहुलता होती है और जो मांसाहार करते हैं तथा अन्यान्य अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करते हैं, उनके विचार उतने ही विकृत होते हैं।

अमेरिका में एक सर्वेक्षण हुआ जो वहाँ के तीस नृशंस अपराधियों पर कियागया। दस-दस के तीन ग्रुप बनाये गये। पहले ग्रुप को छ: माह तक गाय का शुद्ध दूध पिलाया गया। दूसरे ग्रुप को चावल खिलाया गया। और तीसरे ग्रुप को पूर्ववत् मांसाहार दिया गया। सर्वेक्षण की रिपोर्ट में लिखा है कि जिस ग्रुप को शुद्ध दूध पिलाया गया। उसके मन में दो महीने में अपराध बोध शुरु हो गया। जो कभी भी अपना अपराध नहीं स्वीकार करते थे, उनके मन में पश्चाताप के भाव जागृत होने लगें। दूसरे ग्रुप को जिन्हें चावल दिया गया था, उन्हें छ: महीने में अपराध बोध होने लगा। लेकिन जो तीसरा ग्रुप था उसमें अपराधिक प्रवृत्ति घटने की जगह और बढ़ गई; क्योंकि उन्हें मांसाहार दिया गया था।

यह मनुष्य के विचारों पर उसके भोजन के प्रभाव का एक उदाहरण है। भारतीय परम्परा में भोजन का मनुष्य की प्रवृत्ति और विचारों से सह-सम्बन्ध मानते हुए उसे सत्व, रजो और तमो गुणों की अभिव्यक्ति का आधार कहा गया है। इसी आधार पर भोजन के सात्विक, राजसिक और तामसिक रूप के तीन भेद किये गये है। मनुष्य जैसा भोजन करता है उससे नियंत्रित होकर सत्त्व, रजस और तमोगुण मनुष्य के स्वभाव में मुखरित होते हैं। शुद्ध/सादा भोजन सात्विक आहार है। मिर्च-मसालों की बहुलता युक्त चटपटे भोज्य पदार्थ राजसिक भोजन के अन्तर्गत आते हैं तथा तामसिक भोजन में प्रमादकारी सड़े-गले, अशुद्ध, दुर्गन्धमय, उच्छिष्ट पदार्थ जो क्रूरता से संयुक्त हों जैसे मांस, अण्डा, शराब आदि शामिल हैं और यह मांसाहार के समतुल्य है।

आज के वैज्ञानिक भी यह तर्क स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार हम जो कुछ भी खाते हैं वह 'सेरोटोनिन'' (एक रसायन) जो मस्तिष्क की तंत्र कोशिकाओं को सक्रिय रखता है, के माध्यम से हमारे मस्तिष्क, निद्रा, यौन-वृत्ति, भूख व अन्य प्रकार के व्यवहार को नियंत्रित करता है। वैज्ञानिकों का यह मानना है कि यदि भोजन में कार्बोज की मात्रा अधिक होती है तो वह इस प्रकार के 'न्यूरोट्रांसमीटर्स' पैदा करता है, जो मस्तिष्क को शान्त रखता है। निरामिष आहार में कार्बोज प्रचुर मात्रा में होते हैं, जो शक्ति-प्रदायी हैं।

आहार का हमारा दैनिक कार्यों में सीधा प्रभाव पड़ता है। ज्यादा तामसिक भोजन करने से शरीर में तामसिक वृत्तियाँ पनपती हैं। सात्विक भोजन से सात्विक विचारों का प्रवाह बना रहता है। इससे मन स्थिर रहता है। इसी प्रकार सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण भी भोजन के प्रकार और मात्रा से प्रभावित होते रहते हैं। हमारे भोजन से हमारे मस्तिष्क में ऐसे अनेक प्रकार के रसायनों का निर्माण होता रहता है, जो हमारे शरीर को संचालित करते हैं। इसमें से अनेक रसायन ऐसे भी हैं जिनका शरीर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अतः हमें भोजन में ऐसे तत्वों को ग्रहण करना चाहिए जिससे सात्विक भावों की अभिवृद्धि हो तथा ऐसे भोजन से बचना चाहिए जिससे शरीर को और मन को नुकसान पहुँचाने वाले रसायनों का निर्माण हो।

आज वैज्ञानिक इन रसायनों के होने वाले प्रभावों के विषय में अनुसंधानरत हैं। हमारे मन में उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ हमारे मस्तिष्क में उभरने वाले रासायनिक पदार्थों के सम्मिश्रण पर आधारित है। मस्तिष्क के रसायनों के आधार पर आज वैज्ञानिक यह भी जानते हैं कि व्यक्ति के रसायनों को भोजन के द्वारा परिवर्तित करके अपराधवृत्ति के मनुष्यों के स्वभाव में भी परिवर्तन लाया जा सकता है।

जैन आचार संहिता में आहार शुद्धि पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। हमें ऐसे ही आहार को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है जो हमारे स्वास्थ्य और साधना के अनुकूल हो। उस प्रकार के आहार से दूर रहने का भी उपदेश दिया गया है जो हमारे स्वास्थ्य और साधना को प्रभावित करते हैं।

आहार शुद्धि के क्रम में सबसे पहले मद्य, मांस और मधु के त्याग का उपदेश दिया गया है। इन्हें मकार त्रय भी कहते हैं। ये तीनों मकार हमारे जीवन में

विकार लाते हैं। इनके त्याग के बिना अपने जीवन को अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक जैनी को अनिवार्य रूप से इनका त्याग करना चाहिए। ये जैनी होने की पहिचान है। इनके त्याग के बिना जीवन में जैनत्व प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

मद्य का त्याग करना चाहिए। मादक पदार्थों का सेवन हमारे जीवन के लिए बहुत खतरनाक है। इनका सेवन करने से जीवन बर्बाद हो जाता है। शराब हमारे जीवन को खराब कर देती है। शराब पीने से व्यक्ति की वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों बिगड़ जाती है। शराब व्यक्ति के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना को विकृति करती है। इस शराब के कारण अनेक परिवार बर्बाद हो चुके हैं। अनवेषण बताते हैं कि शराब और अराजकता में गहरा सम्बन्ध है। शराबी आदमी अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति उदासीन रहता है। वह एक सामान्य व्यक्ति से अधिक अपराध करता है।

आज जितने भी अपराध होते हैं, वैज्ञानिकों के अनुसार उसमें 92 प्रतिशत शराब के कारण होते हैं। अनके स्थानों पर इस विषय में विशेष सर्वेक्षण हुए हैं। अमेरिका के एक न्यायाधीश ने अपने सामने आये हजार मामलों की छानबीन करने के बाद बताया कि उसमें 92 प्रतिशत शराब से जुड़े थे। लॉस एंजिल्स काउण्टी के सुपीरियर कोर्ट के जल विलियम आर. मैके ने कहा है कि न्यायालय में पेश होने वाले अपराध के दस मामलों में नौ ऐसे होते हैं जो प्रत्यक्षतया शराब के अंधाधुंध उपयोग की देन होते हैं। इन सब बातों से एक बात निर्विवाद रूप से उभरती है कि मद्य-पान और अपराध का चोली दामन का सम्बन्ध है। शराब पीने से व्यक्ति क्रूर और प्रमादी बन जाती है। उसके लिए जीवन बहुत सस्ता हो जाता है। वह अपनी तो हानि करता ही है, कभी-कभी दूसरों की हत्या कर देने में भी संकोच नहीं करता ।जब व्यक्ति शराब के नशे में रहता है, तो वह सभी प्रकार के अपराध और विभिन्न स्तरों पर उत्तरदायित्वहीन व्यवहार करने लगता है। ऐसे व्यक्तियों में शराब पीने के बाद भी मिथ्या साहस की भावना उत्पन्न हो जाती है। उच्च सिद्धान्तों को मानने वाले लोग भी शराब पीने के बाद उचित-अनुचित की भेद-रेखा के विवेक को खो देते हैं। मद्य-पान के कारण वे अपनी भावनाओं पर नियंत्रण खो देते हैं।

आजकल शराब के अतिरिक्त अनेक प्रकार के नशीले पदार्थों का सेवन भी

किया जाने लगा है। आज की नई पीढ़ी तनावमुक्ति, उत्तेजना या सुखाभास की तीव्र अनुभूति या मस्ती के लिए अनेक प्रकार के नशीले पदार्थों का सेवन करने लगी है। ये सभी मनुष्य के लिए बहुत खतरनाक हैं। इनके बड़े घातक परिणाम सामने आ रहे हैं।आज तो गाँजा, भाँग, चरस, अफीम, स्मैक, हिरोइन, कोकीन आदि अनेक प्रकार के मादक पदार्थों का प्रचलन हो गया है। जो इनके अधीन हो जाते हैं, उन्हें जीवन से हाथ धोना पड़ता है।

तम्बाकू, जर्दा और धूम्रपान भी मद्य के अन्तर्गत ही आता है। हर सिगरेट और पान मसाले पर लिखा रहता है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। फिर भी जिन लोगों को उसकी लत पड़ जाती है वे इसे छोड़ नहीं पाते हैं। एक सिगरेट पीने से व्यक्ति की पाँच मिनिट की आयु घट जाती है। केवल उसकी ही आयु नहीं घटती बल्कि जो उसके आसपास रहते हैं वे भी उससे प्रभावित होते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि जो धूम्रपान करते हैं, उन्हें फेफड़ों का कैंसर उपहार स्वरूप मिलता है।

मैंने एक सर्वेक्षण पढ़ा, जिसमें लिखा है कि पिछले चार दशकों में संसार में तम्बाकू पीने और खाने से बीमारियाँ मनुष्य की अकाल मृत्यु का प्रमुख कारण रही हैं। इस आधार पर अकाल मृत्यु के सबसे बड़े कारण जर्दा-धूम्रपान को यमदूत कहा जा सकता है। उस सर्वेक्षण में बताया है कि प्रथम विश्वयुद्ध के चार सालों में जितने लोगों की मृत्यु हुई, उतने लोग तम्बाकू से उत्पन्न बीमारियों के कारण सिर्फ डेढ़ वर्ष में काल-कवलित हो जाते हैं। भारत में रोजाना तीन हजार लोग जर्दा और धूम्रपान से मरते हैं। उस सर्वेक्षण में यह भी बताया है कि एक पैकेट सिगरेट पीने वाला व्यक्ति यदि सिगरेट की जगह उस पैसे को लगातार पच्चीस वर्षों तक बैंक में जमा करते रहे, तो इस अवधि में तीन लाख पचास हजार रुपये बैंक में जमा होंगे। जबकि पच्चीस वर्ष तक धूम्रपान करते रहने के पश्चात् शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पाँच सौ से हजार रुपये प्रतिमाह चिकित्सा पर खर्च करने पड़ते हैं।

इस प्रकार मादक पदार्थ सभी दृष्टियों से हानिकार है, मैं तो कहता हूँ एक प्रकार से अपने शरीर से खिलवाड़ करना है। हमें अपने आचार्यों के परामार्श को ध्यान में रखना चाहिए तथा सब प्रकार के मादक पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

इस प्रसंग में गौतम बुद्ध ने कहा था-''मनुष्यों, तुम सिंह के सामने जाते समय भयभीत न होना; क्योंकि वह पराक्रम की परीक्षा है। तुम तलवार के नीचे सिर झुकाने से भयभीत न होना; क्योंकि वह बलिदान की कसौटी है। तुम पर्वत शिखर पर से पाताल में कूद पड़ना; क्योंकि यह तप की जननी है। पर शराब से सदा भयभीत रहना; क्योंकि यह पाप और अनाचार की जननी है।'' आगे उन्होंने कहा- ''जिस राजा के राज्य में सुरादेवी आदर को प्राप्त होती है वह राज्य कालवेदी पर नष्ट हो जाएगा। वहाँ न औषधि उपयोगी है न अनाज।''

मांस का भी त्याग करना चाहिए। मांस भक्षण में हिंसा है, हिंसा अधर्म है। भारतीय परम्परा 'शाकाहार' अपनाने की बात करती है। शाकाहारी व्यक्ति अधिक स्वस्थ और सुखी रह सकता है। शाहाकर का अर्थ यही है।

शा-शांति

का-कारक

हा-हानि

र-रहित

शाकाहार पूर्णतः शांतिकारक और हानिरहित है। यह व्यक्ति को सुखी और समृद्ध बनाने वाली जीवनशैली है। इसके विपरीत मांसाहार अनेक रोगों का जन्मदाता है। धार्मिक, सांस्कृतिक, शारीरिक, आर्थिक किसी भी दृष्टि से मांसाहार मनुष्य के अनुकूल नहीं है। सभी धर्मग्रन्थों में अहिंसा को महत्त्व देते हुए शाकाहार अपनाने की बात की गई है। भारत की संस्कृति प्राणी मात्र से समान व्यवहार करने की रही है। अपने स्वार्थ के लिए किसी भी जीव की हिंसा करना घोर पाप है।

मनुष्य की शारीरिक संरचना भी मांसाहार के अनुकूल नहीं है। मनुष्य के दाँत, आँत, नाखून, जीभ आदि सभी शाकाहारी प्राणियों की तरह ही हैं। इन सब पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शाकाहार मनुष्य की प्रकृति है। कोई भी मनुष्य पूर्णतः मांसाहार पर नहीं रह सकता। जबकि मांसाहारी प्राणियों के जीवन का मूल आधार मांस ही रहता है। मनुष्य की प्रकृति शाकाहार की है। मांसाहारियों के दाँत तीक्ष्ण, आँते छोटी एवं नाखून पैने होते हैं। जबकि शाकाहारियों की आँत लम्बी होती है। मांसाहार आँतों के कैंसर का प्रमुख कारण है। इसके साथ ही अन्य

भी अनेक घातक बीमारियों जैसे मिर्गी, गुर्दे की बीमारियाँ, गठिया, चर्म रोग, अस्थमा, आँतों का सड़ना और अल्सर आदि रोग मांसाहारियों को अधिक होते हैं। आजकल पशुओं को मारने से पूर्व उनके शरीर में पल रहे घातक रोगों की ठीक ढंग से जाँच नहीं होती और उनके शरीर में पल रहे रोग मांस खाने वाले मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। फिर जिस त्रास और यातनापूर्ण वातावरण में इनकी हत्या की जाती है, उस वातावरण में उत्पन्न हुआ तनाव, भय, छटपटाहटता, क्रोध आदि पशुओं के मांस को जहरीला बना देता है। वह जहरीला रोगग्रस्त मांस मांसाहारी के पेट में जाकर उसके असाध्य रोगों का शिकार बना देता है। वैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषणों के आधार पर स्पष्ट सिद्ध कर दिया है मांसाहार मनुष्य के अनुकूल नहीं हैं। आज डॉक्टर भी शाकाहारी अपनाने का परामर्श देते हैं।

मांस की तरह अंडा भी मांसाहार के ही अन्तर्गत आता है। चाहे वह निषेचित हो या अनिषेचित, कोई भी अंडा शाकाहारी नहीं है। यह सिद्ध हो चुका है कि कोई भी अंडा निर्जीव नहीं रहता। वैज्ञानिक यंत्रों से अंडों में रहने वाले जीवों की संवेदना नापी जा सकती है। अंडे को शाकाहारी निरूपित करना अहिंसक संस्कृति के साथ क्रूर मजाक है। हमें इसे सहन नहीं करना चाहिए और इस प्रकार की भ्रांति का निवारण करना चाहिए। क्या कोई भी अंडा किसी पेड़ पर उगता है? क्या साग सब्जी की तरह अंडों को खेतों में उगाया जा सकता है? नहीं, अंडा शाकाहारी नहीं है। वह तो मुर्गी के जिगर का टुकड़ा है। कल्पना करो कि किसी सद्यः प्रसूत माँ के सामने से ही उसके बच्चे को जबर्दस्ती उठा लिया जाए तो उस माँ पर क्या बीतेगी? क्या उस अंडे देने वाली मुर्गी के बारे में कभी आपने विचार किया? वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चाहे अंडा हो या मांस और मछली सभी हमारे स्वास्थ्य के लिए घातक हैं। अमेरिकी वैज्ञानिक माईकल एस. ब्राउन और डॉक्टर जोसेफ एल.गोल्डस्टीम, जिन्हें सन् 1984 में नोबेल पुरुस्कार मिला है, ने यह सिद्ध कर दिया है कि अंडे के अंदर कॉलेस्ट्रॉल की मात्रा अत्यधिक होती है। कॉलेस्ट्रॉल हृदयघात का सबसे बड़ा कारण है।

इसके साथ ही अंडों में पाया जाने वाला सालमोनेला नामक कीटाणु भी मनुष्य के लिए बहुत घातक है। यही कारण है कि पश्चिम के लोग अब शाकाहार

की गुणवत्ता को मानने लगे हैं। पश्चिम के देशों में बड़ी संख्या में लोग शाकाहारी बन रहे हैं।

आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार अनुकूल नहीं है। एक मांसाहारी के भोजन में जितना व्यय होता हे उतने में आठ व्यक्तियों का भोजन हो सकता है। मांसाहार, शाकाहार की तुलना में आठ गुना मँहगा है। सभी दृष्टियों से शाकाहार ही उपयुक्त आहार है। यही मानवीय आहार है। व्यक्ति को मांस भक्षण का त्याग कर शाकाहार अपनाना चाहिए।

शहद का सेवन करना भी उपयुक्त नहीं है। शहद के भक्षण में भयंकर हिंसा होती है। जो लोग शहद निकालते हैं वे मधुमक्खियों के छत्ते को तोड़ डालते हैं। इसमें कितनी हिंसा है। अपने थोड़े से स्वाद के लिए किसी का घर उजाड़ना कहाँ तक उचित है? थोड़ा विचार कीजिये। कुछ लोग तथाकथित अहिंसक शहद खाने की सलाह देते हैं जो मुधमुक्खियों के उड़ने के बाद निकाली जाती है, लेकिन यह भी ठीक नहीं; क्योंकि शहद तो मधुमक्खियों की उगाल है। किसी प्राणी के उगाल/थूक का सेवन शिष्ट जन नहीं करते। फिर शहद में असंख्य सूक्ष्म जीव भी रहते हैं, जो हमें दिखाई नहीं देते। शहद क सेवन में हिंसा को टाला ही नहीं जा सकता। वैदिक ग्रन्थों में लिखा है कि "एक बूँद शहद खाने में सात गाँवों को जलाने के बराबर पाप लगता है।" अतः शहद भी हम सभी के लिए त्याज्य ही है।

शाकाहर की उपयोगिता को अनेक पश्चिमी विचारकों ने भी स्वीकार किया है। लन्दन वेजिटेरियन सोसायटी द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका- 'दि केश फोर वेजिटैरियनिज्म' ने निरामिषाहारी व्यक्तियों की सूची दी हुई है, उसमें से कुछ तो अपने-अपने क्षेत्र में सुविख्यात हैं। उस पुस्तक के अनुसार-

पश्चिम में कम से कम आठवीं सदी ई. पूर्व से शाकाहार का व्यवहार ऑराफिक सोसायटीज, पाइथोगोरस, ऍम्पीडाक्लीज, प्लेटो और सुकरात जैसे युनानी दार्शिनिकों, ओविड, सेनेका, पोरकिरी पलूटार्क जैसे अनेकानेक विभूतियों द्वारा हुआ है। अधिक अर्वाचीन समयमें स्वीर्डेन बोर्ग, तोल्सतोय, वाल्टेयर, मिल्टन, वेग्ले, आइजकन्यूटन, बूथ, आइज़क पिट मैन .... और जाजै बर्नाड शाँ।

जार्ज बनार्ड शाँ पूर्णत: निरामिषाहारी थे। उनकी मान्यता थी कि युद्ध, वध हत्याएँ, दंगे, फसाद आदि हिंसात्मक कार्यवाहियों से मनुष्य को तब तक छुटकारा नहीं मिल सकता, जब तक मनुष्य मांसाहार का त्याग नहीं कर देते; क्योंकि मानव समाज में व्याप्त नृशंसता मांसाहार में ही निहित है।

एक बार बर्नाड शाँ किसी भोज में गये। वहाँ जब उनके मांसाहार ग्रहण करने को कहा गया तो उन्होंने कहा-''मैं अपने पेट को कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। जो लोग मांसाहार करते हैं, वे मृत पशुओं की जीवित कब्रें हैं।''

एक बार शाँ जब गम्भीर रूप से बीमार पड़ गये और उनके चिकित्सक और परिचारकों ने 'वीफ टी' (गो मांस रस) और 'मटर-सूप' (बकरे के मांस का शोरबा) लेने का आग्रह किया तो शाँ ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि मैं पशुओं को खाकर जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना श्रेयस्कर समझता हूँ।

स्वादिष्ट था। अनेक प्रकार के व्यंजन बनाये गये थे, भोजन में जो रसगुल्ले परसे गये थे वे पण्डित जी को बहुत स्वादिष्ट लगे। खाना शुरू किया तो बस खाते ही चले गये, रुकने की आवश्यकता ही नहीं समझी। रसलोलुप पण्डित जी जब खाना खा चुके तो उठ नहीं सके। पण्डित जी को उदरशूल (पेट दर्द) होने लगा। वे दर्द से छटपटाने लगे, वैद्य को बुलाया गया, वैद्य ने देखभाल कर उन्हें एक दवा की चार चार गोलियाँ, एक गिलास पानी के साथ खाने के लिए दी। पण्डित जी ने कहा ''वैध जी अगर मेरे पेट में इतनी जगह होती कि मैं ये गोलियाँ खाकर एक गिलास पानी पी सकता, तो मैं दो चार रसगुल्ले ही और नहीं खा लेता।''

रसलोलुपता का एक उदाहरण है, यह तो। इस प्रकार के कितने उदाहरण प्रतिदिन देखते हैं। स्वाद के लिये भोजन करें पर सात्विकता की सीमा का उल्लंघन करके नहीं। स्वाद लिप्सा जहाँ मनुष्य को मांस भक्षण की ओर प्रवृत्त करती है, वहीं शाकाहार के स्तर में भी गिरावट लाती है।

आज के सन्दर्भ में मैं आप सबसे यही कहना चाहूँगा कि आहार शुद्धि को अपनाएँ, मांसाहार से बचें, जिन चीजों में अप्रत्यक्ष रूप से मांसाहार का संबंध हो उनका भी परित्याग करें। भारत सरकार ने शाकाहारियों की सुविधा के लिये प्रत्येक डिब्बा बंद खाद्य पदार्थों और दवाईयों पर 'हरा' और 'भूरा' चिन्ह बनाने का कानून बना दिया है। हरा चिन्ह शाकाहारी खाद्य पदार्थों का और भूरा चिन्ह मांसाहारी खाद्य पदार्थों का है। कोई भी खाद्य खरीदने से पहले उसका चिन्ह अवश्य देख लें तथा चिन्ह रहित पदार्थों के सेवन से बचें ताकि अज्ञानतावश किये जा रहे मांसाहार से बचा जा सके। अधिक नहीं तो कम से कम मद्य, मांस और मधु के सेवन का परित्याग तो करना ही चाहिए।

★ ★ ★

साधर्मी को गले लगाओ

धर्म और समाज दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। धर्म जहाँ हमारे व्यैक्तिक जीवनोत्थान की साधना है, वहीं समाज एक सी विचार धारा में जीने वाले लोगों का समूह है। धर्म समाज को अनुशासित और नियंत्रित करता है तो समाज धार्मिक विचारधार का विकास करता है। धर्म के अभाव मे ंसमाज स्वस्थ और सुखी नहीं रह सकता, तो समाज के अभाव में धर्म भी फल-फूल नहीं सकता। धर्म और समाज के इसी सह सन्बन्ध को रेखांकित करते हुए आचार्य समन्तभद्र महाराज ने एक सूत्र दिया है-

न धर्मो धार्मिकैर्बिना

धर्मात्माओं के बिना धर्म टिक नहीं सकता। धर्म के विस्तार के लिए धर्मात्माओं का संरक्षण नितान्त अनिवार्य है। वहीं धर्म चिरस्थायी हो सकता है, जिसके अनुयायी संगठित हों। यह पारस्परिक प्रेम वात्सल्य और सद्भावों की प्रगाढ़ता पर ही सम्भव है। अत: प्रत्येक धर्मात्मा का यह कर्त्तव्य है कि वह धर्मात्माओं को मजबूती प्रदान करे। अन्यथा धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न होने लगती है।

धर्मात्माओं के प्रति इसी सहयोग और संरक्षण की वृत्ति को प्रोत्साहित करने की भावना है- साधर्मी वात्सल्य। प्रेम और वात्सल्य सामाजिक जीवन की मूल चेतना है। इनके बल पर ही पूरे समाज को एक सूत्र में बाँधकर उन्नत बनाया जा सकता है। कुरल काव्य में कहा है-

अस्थिहीनं यथाकीटं, सूर्यो दहति तेजसा।
तथा दहति धर्मश्च प्रेमशून्यं नृकीटकम्॥

जिस प्रकार अस्थिहीन कीड़े को सूर्य की तेज किरणें जला डालती है। उसी प्रकार धर्मशीलता उस मनुष्य को जला डालती है जो प्रेम नहीं करता।

प्रेम और वात्सल्य के अभाव में धर्म टिक नहीं सकता। वात्सलय गुण सम्यग्दर्शन का अंग है। जीवन में वात्सल्य का वहीं स्थान है, जो कि शरीर में हृदय का। हृदयगति के अवरूद्ध होते ही शरीर छूट जाता है। इसी प्रकार वात्सल्य भाव का अभाव होते ही धर्म छूट जाता है। शास्त्राकार कहते हैं–

प्रेम जीवन का प्राण है। जिसमें प्रेम नहीं वह केवल मांस से घिरी हड्डियों का ढेर है।

वात्सल्य शब्द 'वत्स' से बना है। जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति निश्छल और आन्तरिक प्रेम रखती है, बछड़े को देखते ही उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता है, वैसे ही हमें प्रत्येक साधर्मी के प्रति प्रेम-वात्सलय का भाव रखना चाहिए। सामाजिक चेतना के स्फुरण वात्सल्य का विशिष्ट स्थान है। पारस्परिक वात्सल्य के बल पर समाज में समरसता लाई जा सकती है। प्रेम-वात्सल्य जीवन में माधुर्य का रस घोलता है। जैसे मरूस्थल के सूखे हुए ठूठ में कोंपलें नहीं फूट सकती, वैसे ही प्रेम रहित मनुष्य का जीवन कभी भी फल-फूल नहीं सकता। प्रेम जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य है। प्रेम/वात्सल्य के अभाव में बाहरी सौन्दर्य अर्थहीन है। सन्त कहते है– जिसका जीवन प्रेम वात्सल्य के रसव से पगा हुआ है वह संसार में कहीं भी क्यों न चले जाए उसके कोई संकट नहीं आता। इस सन्दर्भ में एक बड़ा प्रेरक रूपक है।

एक बार पानी ने दूध से निवेदन किया– ''तुम बड़े मूल्यवान् हो, तुममें अनेक गुण है, मैं मूल्यहीन हूँ, यदि तुम मुझे अपने में मिला लो तो मेरा मूल्य और महत्त्व दोनों बढ़ जायेगा।''

दूध ने बड़े स्नेह और आत्मीयता से जल को अपने में मिला लिया। साथ ही उसे अपना रंग और स्वाद भी दे दिया। दूध के समान रंग और स्वाद पा जाने से पानी की कीमत बढ़ गई। वह दूध के साथ बिकने लगा।

एक बार हलवाई ने दूध तपाने रखा तो पानी पहले जलने लगा। पानी को जलता देखकर दूध ने सोचा–''अरे! जिसको मैंने शरण दी है उसकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। यह अग्नि मेरे साथी को जला रही है, मैं अभी देखता हूँ इसे। ऐसा सोचकर दूध अग्नि को बुझाने के लिए उबल पड़ा। इतने में हलवाई की दृष्टि उस पर पड़ी। उसने एक गिलास पानी उबलते दूध के तपेले में डाल दिया। दूध ने देखा कि उसका साथी आ गया है तो उसका स्नेह पुनः उमड़ पड़ा और वह शान्त हो गया।''

एक दिन पानी तेल के पास जा पहुँचा। उसने तेल से निवेदन किया कि तुम्हारी बड़ी कीमत है, लोग मेरी कोई कीमत नहीं समझते, तुम मुझे अपने में मिला लो, तो बड़ी कृपा होगी। तेल पानी की बात सुनकर अकड़ गया। वह जल को स्थान देने की अपेक्षा ऐंठकर उस पर बैठ गया। फिर क्या था-पानी मिले उस तेल को दीपक में डालकर जलाया गया, तेल पहले जला, पानी नीचे पड़ा रहा।

यह यथार्थ है, जो दूसरों से प्रेम और वात्सल्यमय व्यवहार करता है, वह सर्वत्र आदर पाता है। इसके विपरीत जो दूसरों से घृणा करता है, दूसरों का तिरस्कार करता है, वह स्वयं भी तिरस्कृत होता जाता है। सन्त कहते हैं-दूध में जल की तरह एक दूसरें में घुल मिलकर रहो, तेल और पानी की तरह नहीं। जिस समाज के लोग दूध और पानी की तरह एक दूसरे से घुल मिलकर रहते हैं, वह समाज निरन्तर प्रगतिशील रहता है। सामाजिक चेतना का प्राण तत्त्व के निकल जाने के बाद शरीर भी शव बन जाता है। इसी तरह पारस्परिक प्रेम वात्सल्य के अभाव में सामाजिक जीवन भी सूख जाता है। प्रेम हो तो समाज मजबूत होकर उन्नति करता है। प्रेम-वात्सल्य के अभाव में बड़ा से बड़ा समाज भी किसी उपयोग का नहीं रहता।

साधर्मी वात्सल्य के सन्दर्भ में हमें तीन स्तर पर विचार करने की आवश्यकता है–

(1) सामाजिक एकता (संगठन)

(2) पारस्परिक सहयोग (संरक्षण)

(3) सबका समादर

इसमें सबसे पहली आवश्यकता है– सामाजिक एकता की। सामाजिक एकता ही समाज की समृद्धि का आधार है। कोई भी समाज तभी आगे बढ़ सकता है जब उसके सभी वर्गों में एकता हो। एकता और संगठन के अभाव में समाज की शक्ति विघटित हो जाती है। अतः समाज को फूट से बचाकर एकता के सूत्र में

पिरोने की आवश्यकता है।

एक बहुत विशाल वृक्ष था हरा-भरा। उसकी घनी छाया राहगीरों की थकान मिटाती, फल-फूल से लदी डालें पक्षियों को बसेरा देतीं। सदैव पक्षियों की चहचहाहट बनी रहती थी। एकाएक वह पेड़ सूखने लगा। पत्तियाँ पीली पड़ने लगी, झड़ने लगीं। शाखाएँ सूख कर टूटने लगी। गाँव के एक अनुभवी वृद्ध को सभी ने अपनी समस्या बताई। वह वृक्ष देखने आये। आसपास की मिट्टी खोदी, तो पाया जड़ में कीड़े लगे थे। इसलिए पानी और खाद से लाभ नहीं हो पा रहा था। उन्होंने कीड़ों को अलग करने का उपाय करने को कहा। कीड़ें अलग हो जावेंगे तो वृक्ष स्वत: हरा भरा हो जायेगा।

बिलकुल यही स्थिति समाज रूपी वृक्ष की है। इसमें फूट का कीड़ा लग गया है। समाज भी तभी तक फलता-फूलता है जब तक उसमें फूट न हो। यदि सबके मन में वात्सल्य भाव रहे तो फूट का कीड़ा लग नहीं सकता। वात्सल्य और फूट एक साथ नहीं रहते। जिसके प्रति वात्सलय भाव होता है उसके प्रति ईर्ष्या भाव नहीं होता। ''महावग्ग'' बौद्ध साहित्य ग्रन्थ है। उसमें बुद्ध का एक वाक्य है। वाक्य बड़ा चुनौती पूर्ण है। बुद्ध कहते हैं ''फूट का बीज हमारा सबसे बड़ शत्रु है। भिक्षुओं, फूट डालने वालों को क्षमा न करना। एक बार अपराधी को क्षमा किया जा सकता है लेकिन फूट डालने वालों को क्षमा प्रदान नहीं की जा सकती।''

आज समाज में फूट एक संक्रामक रोग की तरह फैल रही है। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के कारण समाज का कितना अहित कर रहा है? धर्म आगाह करता है- एक बार विचार तो करो, अपनी महत्त्कांक्षाओं के पीछे कितनी बार पतित हुए हो? महत्त्वाकांक्षा की जगह महान् बनने की आकांक्षा उत्पन्न करो। महान् बनने की कामना करो, महत्ता पाने की नहीं। लोग समाज को विभाजित करने में लगे हैं। चौधराहट की भूख से समाज के टुकड़े किए जा रहे हैं। धर्म या समाज के काम, पद और प्रतिष्ठा की लोभग्रस्त भावना में किए जा रहे हैं। धर्म या समाज के काम, पद और प्रतिष्ठा की लोभग्रस्त भावना मैं किए जा रहे हैं। काम के बाद यदि पूछ न हो तो बहुत दु:ख होता है, क्रोध आता है। यदि पूछ की इतनी चिन्ता है तो पूँछ लगवा लो। मानव और जानवर में एक पूँछ का ही तो अन्तर दिखता है। धर्म या समाज का कार्य तो पूजा की भावना से करना चाहिए। गृहस्थ द्वारा धर्म, का इस भावना से किया गया कार्य उसकी पूजा ही है। इन कार्यों में उतनी ही पवित्रता रखनी चाहिए, जितनी की सामायिक और पूजा में रखी जाती है। इसे अपने अहंकार की तुष्टि का कारण नहीं बनाना चाहिए। इस महत्त्वाकांक्षा की अग्नि ने कितने विनाश किए हैं, इस पर विचार तो करें।

दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा का परिणाम क्या हुआ? महाभारत हुआ। पूरा कौरव वंश और पूरे समाज का विनाश। ऐसा अन्त हुआ कि कोई आज अपना नाम भी दुर्योधन-दु:शासन नहीं रखता। फिर भी दुर्योधन और दु:शासनों की संख्या बढ़ती दिखती है। नाम वो नहीं है, पर आचरण वही है। समाज के बड़े बूढ़े धृतराष्ट्र बने बैठे हैं। आज दुर्योधन को सही दृष्टि देने की आवश्यकता है। दु:शासन के कुशासन को कुचलने की जरुरत है। आज स्थिति भीषण होती जा रही है। लोग अपने स्वार्थ के पीछे समाज को तोड़ रहे हैं। अपने स्वार्थ के पीछे समाज के व्यापक हितों को अनदेखा कर रहे हैं। लोगों को जोड़ने का यत्न करो, तोड़ने का नहीं। तोड़ना बहुत सरल है और जोड़ना उतना ही कठिन। मकान के निर्माण में एक-एक ईंट जोड़नी पड़ती है, समय और श्रम लगता है, किन्तु तोड़ने में बुलडोजर का एक धक्का ही बहुत होता है। इसी तरह किसी के जीवन को बनाने में समाज के निर्माण में, उसमें एकता बनाने में परिश्रम करना पड़ता है। फूट डालनी हो तो जरा सी बात पर सम्भव है, विध्वंसक विचार धारा के लोग बहुत हैं। रचनात्मक विचारधारा के लोग बहुत कम है। वात्सल्य अंगधारी व्यक्ति सृजनात्मक प्रवृत्ति का होता है। विध्वंस की बात तो उसके स्वप्न में भी नहीं आती।

दो तरह के लोग होते हैं- एक कैंची की तरह काटने वाले, दूसरे सुई की तरह जोड़ने वाले। कैंची सीधी चलती है, क्योंकि उसे तो काटना है। सुई साथ में धागा लेकर चलती है, उसकी राह टेड़ी मेड़ी और कार्य कठिन होता है। किसी को तोड़ने में क्या उपलब्धि? टूटना तो वैसे भी सम्भव है। सच्ची उपलब्धि जोड़ने में है।

बनाने की सोचिए, बिगाड़ने की नहीं,
बसाने की सोचिए, उजाड़ने की नहीं।
नया नक्सा बनाना है, समाज का अगर,
जोड़ने की सोचिए, तोड़ने की नहीं॥

आज लोग जोड़ने की नहीं तोड़ने की अधिक सोचते हैं। साधर्मी वात्सलय जहाँ प्रत्येक साधर्मी के प्रति प्रेम आत्मीयता और वात्सल्य का भाव रखने की प्रेरणा देता है, स्नेह, सौजन्य और समरसता से जीने की बात करता है, वहीं लोगों को आपस में उलझने में आनन्द आता है। आज भाई ही भाई का दुश्मन बन रहा है। ऐसी स्थिति में समाज कैसे उन्नति कर सकता है। किसी भी समाज को बाहरी शक्तियों से उतना खतरा नहीं होता, जितना कि उसके भीतर रहने वाले विध्वंसक विचारधारा से ग्रसित लोगों से। बड़ी पुरानी कथा है- ''एक बार एक लुहार बैलगाड़ी से लोहे की कुल्हाड़ी लेकर जा रहा था। गाड़ी भरी थी। रास्ते में जंगल पड़ा। बड़े-बड़े सागवान् के पेड़ खड़े थे। पेड़ों ने कुल्हाड़ी को देखा तो उनमें कँपकपी उत्पन्न हो गई। सभी ने सोचा इन कुल्हाड़ियों ने अपना अन्त निश्चित है। धबड़ाये हुए पेड़ों को देखकर एक बड़े पेड़ ने अन्य पेड़ों को संबांधित करते हुए कहा- इन कुल्हाड़ियों से हमें तब-तक कोई खतरा नहीं तब तक हमारे बीच का ही कोई साथी इनमें जाकर न मिलें। जब तक कुल्हाड़ी में बेंट नहीं होगी, वह हमारा बाल बाँका भी नहीं कर सकती।'' बड़े पेड़ की बात सुनकर सभी पेड़ स्तब्ध रह गये। ठीक ही कहा है-

कुल्हाड़ी में लकड़ी का दस्ता नहीं होता।
लकड़ी के कटने का रास्ता नहीं होता॥

आपस में लड़ने वाले लोग कुत्ते की विरादरी के होते हैं। कुत्ते की विरादरी अच्छी नहीं मानी जाती। अयोध्या प्रसाद गोयलीय ने इस सन्दर्भ में बड़ी रोचक बात लिखी है-

बेटे ने माँ से कहा- ''लोग अपने बेटे का नाम तोताराम, शेरसिंह, गजानन, वृषभदास, हंसराज, मयूरध्वज, हाथीशाह, और लड़कियों के नाम मैना, कोकिला, मृणालिनी, गोमती, नागकुमारी आदि अन्य पशु-पक्षियां के नाम तो रखते हैं, लेकिन कुत्ते के पर्यायवाची श्वानसेन, कूकरनाथ, रात्रिजागरमल आदि नाम नहीं रखते। उल्टा किसी को कुत्ताचन्द्र कह दो तो बुरा मान जाता है और लड़ने मारने को तैयार हो जाता है। माँ मेरा नाम शेरसिंह की अपेक्षा 'श्वानसेन' रख दो। मुझे यह नाम जितना प्रिय हो जाता है उतना ही वर्तमान नाम 'शेरसिंह' से नफरत है। कल सरकस में देखा-''शेर तो माँस खाता है, उसके शरीर से महादुर्गन्ध आती है, बड़ा ही क्रोधी और हिंसक पशु है।''

माँ बालक की सरलता पर मुस्कुराई, फिर प्यार से बोली-''कुत्ता स्वामी भक्त और वफादार तो है पर अपनी जाति से द्रोह रखता है अपनो को देखते ही काटने दौड़ता है। जो जाति औरों से प्रेम और अपनो से बैर रखती है, उस जाति को सब नफरत की नजर से देखते हैं। इसलिए कुत्ता शब्द इतना घृणित और अपमान जनक बन गया है कि कोई भी इसे अपने लिए सुनना नहीं चाहता।''

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में अनेक प्रकार की विचार धारा के लोग होते हैं। उनमें मतभिन्नता स्वाभाविक है। इसके बाद भी सब के मध्य सामंजस्य और सरलता स्थापित की जा सकती है। सन्त कहते हैं-''मत भेद रहे, मन भेद नहीं।''वीणा के सात तार होते हैं। सातों तार अलग अलग होते हैं। फिर भी वीणा से मधुर संगीत निकलता है; क्योंकि सातों तारों के अलग-अलग होने के बाद भी उनमें आन्तरिक सामंजस्य होता है। वे अपना समवेत स्वर देते हैं। यदि हर तार अपना अलग-अलग स्वर दे, उसमें सामंजस्य नहीं हो तो वीणा से संगीत प्रस्फुटित नहीं हो सकता। साधर्मी वात्सल्य का यही अर्थ है कि अलग-अलग होने के बाद भी समाज के प्रत्येक सदस्य समवेत स्वर दें। उनमें आन्तरिक सामंजस्य हो।

आज वीणा तो है, पर संगीत नहीं। इसके दो कारण हो सकते हैं-या तो तार टूटे हैं, या उनमें सामंजस्य नहीं है। ऐसी स्थिति में वीणा संगीत उत्पन्न नहीं कर सकती। वह काष्ठ की वस्तु मात्र रह जाती है। सन्त कहते हैं-

संगठन की वीणा बजने दो,
मोहे मधुर-मधुर धुन सुनने दो।
वीणा ये तान सुनाती है,
संगठन का पाठ पढ़ाती है।
टूटे हुए दिल को जुड़ने दो,
संगठन की वीणा बजने दो॥

समाज की उन्नति और मजबूती के लिए एकता और संगठन की जरूरत है। यदि समाज के विभिन्न घटकों में एकता हो तो वह समाज हर प्रकार की चुनौतियों का सामना कर सकती है। हम किसी को एक अंगुली दिखायें तो वह उसे कभी भी

तोड़कर अलग कर सकता है, पर जब पाँचों अँगुलियों को एक कर दो तो वह मुट्ठी बन जाती है। मुट्ठी का प्रहार प्रबल होता है, वह सब से लोहा ले सकती है। यद्यपि पांचों अँगुलियाँ अलग-अलग हैं, पर हैं सभी हमारे हाथ के ही अंग। एक-एक अँगुली स्वतंत्र रूप से अपना कार्य नहीं कर सकती। कोई भी काम वे तभी कर सकती हैं जब वे एक दूसरे से मिलती है। पाँचों अँगुलियों को एक किये बिना भोजन भी नहीं कर सकते। इसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्गों में एकता के बिना समाज ठीक ढंग से नहीं जी सकता।

यह तभी सम्भव होगा, जब समाज में रहने वाले छोटे-बड़े सभी घटकों का सही मूल्यांकन किया जाये। यह सच है कि पाँचों अँगुलियाँ बराबर नहीं होती, पर यह भी सच है कि वे हमारे लिए बराबरी से सहायक होती है। सच्चा धर्मात्मा, व्यक्ति की बाहरी सम्पन्नता और विपन्नता के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं करता। उसकी दृष्टि में उसके अन्तरंग में पहले वाली धार्मिक आस्था होती है। जिसके कारण उसका प्रेम सभी पर बरसता है। वह समाज के छोटे से छोटे व्यक्ति को भी उतना ही सम्मान देता है, जितना कि एक धर्मात्मा को दूसरे के प्रति देना चाहिये। कहा है-

बड़े बड़न को देख के लघुहिं न दीजे डार।
जहाँ काम आवे सुई, कहाँ करे तलवार॥

सुई का काम तलवार से नहीं होता, इसलिये सुई को त्यागना नहीं। इसी तरह समाज में रहने वाले हर घटक का, प्रत्येक वर्ग का योगदान होता है। एक बड़ी मशीन भी तब ही कार्य कर सकती है, जब उसके सब छोटे और बड़े कल-पुर्जे काम करते हैं। उस मशीन का यदि कोई बड़ा पुर्जा अहंकार करने लगे कि वही उस मशीन को चलाने वाला है, तो यह गलत है। एक छोटा पेंच भी यदि कभी अलग हो जाता है, तो मशीन बन्द हो जाती है, इसी प्रकार समाज का प्रत्येक अंग अपना कर्त्तव्य/दायित्व समझकर योगदान देते रहे, तो यह मशीन चलती रहेगी। अतः छोटों को तिरस्कृत न करें, उनका भी अपना महत्त्व है। महान के निर्माण में बड़ी-बड़ी शिलाएँ, ईंट, सीमेंट लगाकर दीवालें उठाई जाती है। छत के लिये बड़ी-बड़ी बीमें डाली जाती हैं, पर दीवाल में दरार दिखाई पड़ती है, तब ये बड़ी-बड़ी दरार भरने के काम नहीं आती। उस समय तो रेत और सीमेंट का पतला घोल ही उपयोगी होता है। अतः समाज के छोटे से छोटे वर्ग के सदस्य के प्रति भी वात्सल्य होना चाहिए।

राजा हरजसराय जी के सुपुत्र सेठ सुगनचन्द्र अपार धन सम्पदा के स्वामी थे। वे बड़े दानी थे। एक बार किसी खुशी के अवसर पर उन्होंने पूरे नगर में मिठाई बँटवायी। उनके सेवक घर-घर मिठाई बाँट रहे थे। उसी नगर में गरीब किन्तु स्वाभिमानी जैन व्यक्ति रहता था। उसने मिठाई स्वीकार नहीं की। सेठ जी के कारिंदों ने पूछा-''भाई क्यों इनकार कर रहे हो?'' उसने कहा-''भाई, सेठजी से मेरा कोई व्यवहार नहीं है। मैंने कभी कुछ दिया नहीं, तो फिर उनकी भेंट कैसे ले सकता हूँ?''

वे लोग लौट गये। सेठ जी ने पूछा- ''सबको मिठाई बाँट आये, कोई छूट तो नहीं गया।'' सेवकों ने बताया- ''केवल एक व्यक्ति ने भेंट नहीं ली। वह कहता था, मेरा सेठ जी से काई व्यवहार नहीं है।'' सेठ जी बोले- ''कोई बात नहीं, चलो मैं चलता हूँ।'' सब लोग आश्चर्य में पड़ गये। इतने बड़े श्रेष्ठि, जो राजा को धन उधार देते हैं, वे एक गरीब को मिठाई भेंट करने स्वयं जा रहे हैं।

सेठ जी ने कहा-''वह भी हमारे समाज का ही अंग है, उसे कैसे छोड़ दूँ?'' बग्घी पर सेठ जी और पीछे-पीछे सेवक मिठाई लेकर चले। उसकी दुकान के कुछ पहली बग्घी से उतरकर सेठ जी पैदल उसकी दुकान पर गये। वह चने बेचता था। कुछ चने उठाकर फाँक गये। वह बेचारा बहुत दुविधा में पड़ गया, समझ ही नहीं पा रहा था। सेठजी ने उससे पानी माँगा। उसके पैरों तले जमीन खिसक गई। इतने बड़े सम्माननीय व्यक्ति, इतनी छोटी से दुकान पर आये, चने खाये, अब पानी माँग रहे हैं। कैसे पानी पिलाऊँ, सुराही तक तो टूटी सी है। उसे चिन्ता में देख सेठजी ने स्वयं टूटी सुराही झुकाई और अँजुली से पानी पी लीया। फिर उनका इशारा पाकर सेवकों ने मिठाई से टोकरी लाकर उसके सामने रख दी। वह बोला ''सेठजी मैंने कभी आपको कुछ दिया नहीं,मैं आपसे यह कैसे ले सकता हूँ?'' ''अरे भाई! मैंने तो तुम्हारा खाया भी और पीया भी है। अब तो ग्रहण कर लो।'' इतना सुनना था कि वह सेठजी के चरणों में गिर पड़ा।

यह है वास्तविक वात्सल्य भाव का रूप, सम्यग्दर्शन का अंग, वात्सल्य, जो छोटे से छोटे व्यक्ति के भी स्वाभिमान का मान रखना जानता है। जिसके जीवन में

धर्म होता है, वह सबको प्रेम भाव से देखता है, किसी की उपेक्षा नहीं करता।

हमारे शरीर के छोटे बड़े अंग/अवयव हैं। उसमें से कोई अंग कमजोर होता है, हम उसका उपचार करते हैं; क्योंकि शरीर के किसी भी अंग की कमजोरी हो तो उससे पूरा शरीर प्रभावित होता है। समाज भी शरीर की तरह है। समाज का एक-एक घटक समाज का अंग है। समाज की समुन्नति के लिए इसके छोटे से छोटे घटक को भी संरक्षण की आवश्यकता है। जो लोग समाज के बड़े लोगों में गिन जाते हैं, वे यदि अपने से छोटे/कमजोर लोगों की सहायता में आगे आ जाए तो समाज काफी आगे बढ़ सकता है। जो व्यक्ति सक्षम होकर भी दूसरों की सहायता के लिए अपने हाथ आगे नहीं बढ़ाता है, वह कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकता। आचार्य वीरनंदी ने कहा-

जैनानामापद्गतांस्तस्पादुपकुर्वन्तु सर्वथा।
यो समर्थोप्युपेक्षेत स कथं समयी भवेत्॥

प्रत्येक धर्मात्माओं को, आपत्तिग्रस्त धर्मात्माओं के लिए सब प्रकार से सहयोग देना चाहिए। जो समर्थ होकर भी उपेक्षा करता है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है?

एक समय था जब जैन समाज में साधर्मी वात्सल्य के बड़े-बड़े उदाहरण मिलते थे। तभी तो सेठ सुगनचन्द्र जी जैसे आदर्श उपस्थित हुए। परन्तु आज इस प्रकार की सहयोगात्मक वृत्ति निरन्तर क्षीण होती जा रही है। इसीलिए समाज आज पिछड़ता जा रहा है। वह समाज कभी भी उन्नति नहीं कर सकता, जिसमें एक दूसरे के प्रति सहयोग की वृत्ति नहीं हो। सिंधी समाज को देखें, वे कहाँ से कहाँ पहुँच गये। जो आजादी के समय अपना सबकुछ गँवाकर शरणार्थी के रूप में आए थे, आज काफी मजबूत स्थिति में हैं। यह सब इसलिए कि उनमें एक दूसरे के सहयोग देने की वृत्ति है। पारसी समाज यद्यपि संख्या में बहुत कम है, पर बहुत सम्पन्न और प्रभावशाली स्थिति में है। उनके यहाँ एक दूसरे को सहयोग देने की बड़ी अच्छी परम्परा है। जब मैं भोपाल में था, वहाँ एक बड़े अधिकारी ने मुझसे कहा कि महाराजश्री मेरे एक पारसी मित्र हैं, उन्होंने अपनी बेटी का विवाह एक अनाथ पारसी से किया, न केवल विवाह किया अपितु बहुत सारा पैसा देकर उसे अपने समाज उद्योगपति बना दिया। यह पारस्परिक सहयोग का एक अच्छा उदाहरण है।

आज जैन समाज के तथाकथित बड़े लोगों के लिए यह चिन्तन का विषय बना हुआ है। क्या वे समाज के कमजोर लोगों के लिए कुछ कर पाने की स्थिति में हैं। जब तक इस दिशा में कुछ सोचा नहीं जाएगा। समाज की दशा बदल नहीं सकती। जैन समाज बड़ी उत्सवप्रिय समाज है। बड़े-बड़े पूजा विधानों और पंचकल्याणकों के नाम पर लाखों रुपया खर्च कर देती है, परन्तु किसी असहाय/कमजोर व्यक्ति के लिए हजार रुपया देने में भी मुँह मोड़ लेते हैं। तुम्हारी सम्पन्नता तभी सार्थक है, जब अपने से कमजोर लोगों को सहयोग दो।

आज ऐसे लोगों की भी कभी नहीं है जो साधर्मियों के सहयोग और उत्थान के लिए सदैव, सक्रिय और सचेष्ट रहते हैं। विगत कुछ वर्ष पहले हम आचार्यश्री के पास नेमावर में थे।एक दिन आर.आर.के. मार्बल्स के संचालक अशोक जी पाटनी दर्शन के लिए आये। उसने मैंने समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के सहयोग के लिए बात की। चर्चा के दौरान उन्होंने बताया कि महाराजश्री मैंने आप सबके आशीर्वाद से एक छोटा सा काम हाथ में लिया है। मैंने अपनी एजेंसी द्वारा किशनगढ़ तहसील में एक सर्वे कराया है कि दिगम्बर जैन समाज में कितने गरीब परिवार हैं, जिनकी बेटियों की शादी नहीं हो पा रही है। मैंने प्रत्येक परिवार को चुपचाप एक-एक लाख रुपया देने का निर्णय लिया है। मैंने इस बात की पूरी सावधानी रखी है कि इसमें किसी दूसरे को पता न चले, इससे उनके स्वाभिमान को आघात पहुँचता हैं। आज के सन्दर्भ में यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

जैने समाज में यद्यपि धनाढ्य लोगों की कमी नहीं है। फिर भी ऐसे लोग भी है जो ठेला चलाकर, मजदूरी करके अपना गुजारा चलाते हैं। गोटेगाँव में मैंने एक पल्लेदार के यहाँ आहार किया है। वह गरीब जरूर था पर भावनाओं से सम्पन्न था। उसने चौका लगाया। सात दिन तक उसका चौका खाली गया। आठवें दिन कुछ युवकों ने मुझे बताया कि महाराजजी एक चौका सात दिनों से खाली जा रहा है। बड़ा गरीब आदमी है वह। मैंने उनसे कहा कि गरीब है, तो पहले क्यों नहीं बताया? क्या करता है वह? लोगों ने कहा-महाराज पल्लेदार (हम्माली) करता है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। ''पल्लेदार करता है! जैन है! शराब-बराब तो नहीं पीता?'' लोगों ने कहा ''महाराज बड़ा धर्मात्मा है। नित्य मन्दिर आता है, पूजा-पाठ करता है, और

साल में एक-आध छोटी-मोटी बोली भी ले लेता है।''

मैं आहार को निकला, सीधा उसके घर को गया। उसने बड़ी भक्ति से पड्गाहन किया। छोटा सा मकान था। पूरे शहर भर के लोग आहार देने/देखने आये। उस दिन मैंने किसी का एक दाना भी नहीं लिया। क्यों बताऊँ? उस दिन मुझे रोटी में जो मिठास लगी, वैसी मिठास आज तक नहीं लगी।

आहार के उपरान्त मैंने समाज के लोगों को समझाया कि जैन समाज का व्यक्ति अपनी उदर पूर्ति के लिए इस प्रकार का कार्य करे यह समाज के लिए शोभास्पद नहीं है। समाज ने तत्क्षण उसे सहयोग देने का संकल्प लिया। आज वह गल्ले का व्यापार करने लगा है। समाज के छोटे से सहयोग से गरीब आदमी भी अमीर बन सकता है।

समाज में ऐसे गरीब लोगों की कमी नहीं है। उन्हें सहयोग देने की आवश्यकता और अपेक्षा है। विगत कई वर्षों से मैंने समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। मैं जहाँ भी जाता हूँ लोगों को इस दिशा में आगे आने की प्रेरणा देता हूँ। अनेक स्थानों पर सामाजिक स्तर पर और अनेक लोगों ने व्यैक्तिक स्तर पर यह कार्य करने का संकल्प लिया है। ललितपुर, जबलपुर, सागर, अशोकनगर, गुना जैसे स्थानों की समाज इस कार्य में आगे आई हैं। वहाँ आचार्यश्री के नाम पर ''आचार्यश्री विद्यासागर साधर्मी विकास न्यास'' की स्थापना हुई है। इस न्यास के माध्यम से वहाँ के लोगों को जीविका के लिए सहयोग देने के साथ-साथ विवाह, शिक्षा और चिकित्सा के लिए भी अनुदान दिया जाता है। अनेक परिवार उससे लाभान्वित हुए हैं। मैंने समाज को एक नारा दिया है-

वात्सल्य का भाव जगाओ,
साधर्मी को गले लगाओ॥

साधर्मी वात्सल्य के सन्दर्भ में जहाँ एक दूसरे को सहयोग देने की आवश्यकता है, वहीं एक-दूसरे के समादर करने की भी अपेक्षा है। जब तक एक दूसरे के प्रति आदर और आत्मीयता का भाव नहीं होगा तब तक समाज का आन्तरिक ढ़ाँचा मजबूत नहीं बन सकेगा। जैन समाज के इतिहास को देखे तो पता चलेगा, एक

समय भारत की सबसे बड़ी आबादी जैन थी, आज नहीं हैं, ऐसा क्यों? इसका बड़ा कारण हमारी उपेक्षा वृत्ति है। किसी से कोई गलती हो गई, उसका तिरस्कार कर दिया। वे धर्म से विमुख हो गये। आज अनेक जैन जातियाँ लुप्त हो चुकी है। यह सब साधर्मी वात्सल्य के अभाव का दुष्परिणाम है।

सन्त कहते है-किसी भी व्यक्ति को कभी भी मत ठुकराओ। पतित से पतित व्यक्ति भी एक दिन पावन बन सकता है। जो आज हीन हैं कल महान बन सकता है। पाप से घृणा करो, पापी से नहीं, रोग से बचो, रोगी से नहीं। यदि हम किसी की कोई कमजोरी देखते हैं तो उसे दूर करने की कोशिश करें न कि उसका तिरस्कार करें। प्यार से दुलार कर हम नटखट से नटखट बच्चे को भी सुधार सकते हैं। यह तभी सम्भव होगा जब हमारा मन स्नेह-वात्सल्य से भींगा होगा।

एक बार आचार्यश्री से एक व्यक्ति ने कहा- महाराजश्री व्यसन और बुराईयों में फँसे हुए लोग भी आपके आस-पास आने लगे हैं, यह अच्छा नहीं लगता। आचार्यश्री ने कहा-''मरीज अस्पताल में नहीं आएगा तो कहाँ जाएगा?'' सच है, व्यसनों बुराईयों में फँसे लागों को सुधारने का एक ही स्थान है। वह है-सत्संग। यदि हमने उसे भी बन्द कर दिया तो वह जायेगा कहाँ? यदि वह सत्संग में आता है तो उसके सुधार की सम्भावनाएँ बढ़ती हैं। अतः हमें उसके प्रति भी वात्सल्य का भाव ही रखना चाहिए।

आचार्यश्री ने उस व्यक्ति से आगे कहा कि धर्म के क्षेत्र में सदैव सकारात्मक दृष्टिकोण रखना चाहिए। प्रश्नकर्त्ता एक प्रोफेसर था। आचार्य श्री ने उनसे पूछा ''आप कापियाँ जाँचते हैं।''

''कितने प्रतिशत अंक पर उत्तीर्ण करते हैं?''

उन्होंने कहा- ''महाराज श्री तैंतीस प्रतिशत अंक पर उत्तीर्ण करते है।''

आचार्य श्री- ''तैंतीस प्रतिशत पर उत्तीर्ण होने वाला छात्र अनुत्तीर्ण कितने अंक पर हैं?''

उन्होंने कहा- ''सड़सठ प्रतिशत में।''

तब आचार्यश्री ने उन्हें समझाया। जो छात्र तैंतीस प्रतिशत अंक पा रहा है वह

सड़सठ में तो अनुत्तीर्ण ही है, फिर भी उदार दृष्टिकोण के कारण आप उसे उत्तीर्ण करते हैं। अर्थात सड़सठ प्रतिशत में योग्य नहीं होने के बाद भी आप उसे उसके प्राप्त अंकों को ध्यान में रखते हुए उत्तीर्ण कर देते हैं। इसी तरह धर्म क्षेत्र में भी किसने-कितने अंक नहीं पाये, यह नहीं देखना चाहिए। हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि उसने कितने अंक पाये हैं। शत-प्रतिशत अंक पाने वाला तो कोई विरला ही होता है। इसलिए जो अभी सौ अंक नहीं पा सका या न्यूनतम उत्तीर्ण अंक भी नहीं पा सकता तो भी उसे तिरस्कृत मत करो। यह विचार करो कि वह कम से कम परीक्षा में तो बैठा है। उसने परीक्षा देने का साहस तो किया है। आगे और प्रयत्न करेगा तो सफल भी होगा, पर जो परीक्षा में बैठ ही नहीं रहा है। वह कैसे उत्तीर्ण होगा? उसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है। अत: उससे घृणा कर उसकी सम्भावनाओं का अन्त नहीं करना चाहिए। कभी-कभी खोटा सिक्का भी तो काम आता है। फर्श पोंछने के काम में आयेगा यह सोचकर फटे कपड़े को भी सम्हाल कर रखते हैं। इसलिए कभी किसी का तिरस्कार मत करो।

पण्डित आशाधर जी ने लिखा है- ''नाम का जैनी भी काम का है।'' इस वाक्य को ध्यान में रखना चाहिए। नाम का ही सही कम से कम अहिंसा में आस्था तो रखता है। भले ही आचरण अभी जीवन में न हो, उसके प्रति भी सद्भाव रखो, उसमें भी परिवर्तन आ सकता है।

हमारे मन में साधर्मी वात्सल्य की भावना जगे, इसी भावना के साथ प्रेरक सूत्रवाक्य के उल्लेख पूर्वक अपनी वाणी को विराम दे रहा हूँ-

वातसल्य का भाव जगाओ।
साधर्मी को गले लगाओ॥

* * *

सेवा ही पूजा है

भिक्षुक उपगुप्त राजगृही के राजमार्ग से गुजर रहा था। अचानक उसके कान में एक मृदुल आवाज पहुँची-''भिक्षुक! ठहरो''

उसने देखा कि अपने महल में खड़ी राजनर्तकी उसे बुला रही है। उसकी आवाज को अनसुना कर भिक्षुक अपने गन्तव्य की ओर बढ़ने लगा।

पुन: आवाज आई- ''भिक्षुक ठहरो! तुम कहाँ जा रहे हों?'' और दूसरे ही क्षण राजनर्तकी उपरम्भा उसके सामने खड़ी थी। उसकी कमनीय काया और सुन्दर देह यष्टि स्वर्ग की अप्सरा को भी लज्जित करने वाली थी। वह नर्तकी साधारण से भिक्षुक की असाधारण रूपराशि पर मुग्ध थी। वह बोली- ''ओह! इतनी सुन्दर काया और अलौकिक रूप! तुम्हें तो कोमल कुसुमों की मृदुल शैय्या पर यौवन का आनन्द लूटना चाहिए था ऐसी अनिंद्य सुन्दर काया में तपस्या का यह कठोर मार्ग क्यों चुना? मैं तुम्हें अपने राजमहल में आमंत्रित करती हूँ। मैं तुम्हारा सामीप्य और स्वामित्व चाहती हूँ।''

राजनर्तकी के इन शब्दों को सुनकर भिक्षुक पलभर को अवाक् खड़ा रह गया। वह पुन: बोली- ''मेरे राजमहल का एक-एक प्रदेश तुम्हारें अभिनन्दन के लिए प्रतीक्षा रत है। यह सोचने का वक्त नहीं है। राजमहल की ओर अपने चरणों कमलों का आरोहरण करें।''

भिक्षुक ने प्रत्युत्तर में बस इतना ही कहा- ''नहीं, अभी मैं नहीं आ सकता।'' जिस राजनर्तकी की रूपराशि की एक झलक पाने को बड़े-बड़े राजकुमार लालायित रहते हैं। जिस रूप की कीमत चुकाने के लिए हजारों स्वर्ण मुद्राएँ लुंठित रहती हैं, उस राजनर्तकी ने आज पहली बार किसी को चाहा है। और सामीप्य पाने की प्रार्थना की है। जिसकी भृकुटी के एक इशारे पर यौवन का अल्लहड़पन समर्पित हो

सौभाग्य का दम्भ भरे, आज वह प्यासे नयनों से किसी भिक्षुक को अपना दिल दे बैठी है।

उसने अपने कटाक्षों का सम्मोहन बाण पुनः चलाया और कहने लगी ''मैंने तुम्हें स्वीकार किया है, अस्तु मेरे साथ जीवन के अप्रतिम आनन्द का उपभोग करो।''

भिक्षुक का संक्षिप्त उत्तर था- 'अभी नहीं।'

''तो फिर कब आओगे?'' नर्तकी ने प्रति-प्रश्न किया।

''मैं समय पर आऊँगा।'' कहकर भिक्षुक, उपरम्भा के आमंत्रण को अस्वीकार करते हुए आगे बढ़ गया।

नर्तकी उसके चिन्तन में खो गई। उसे लगा कि जैसे कोई बड़ी निधि आज उसके हाथ से छूटकर चली गयी। उसके कानों में बार-बार एक ही आवाज गूँजती रही- ''मैं आऊँगा। मैं समय पर आऊँगा।''

समय चक्र बदला। जिस काया की सुन्दरता पर उसे इतना नाज था,उस काया में गलित कुष्ठ हो गया। शरीर में घाव और घाव में कीड़े बिलबिलाने लगे, शरीर से दुर्गन्ध फैलने लगी। राजा का मन मोहने वाली राजनर्तकी आज सबके घृणा का पात्र बनकर उपेक्षित होने लगी।

नियति को इतने पर भी संतोष नहीं हुआ।

इस संक्रामक रोग से अन्य लोग प्रभावित हो, इसके पहले ही राजाज्ञा, हुई कि इसे राजमहल से दूर नगर से बाहर आश्रयस्थली दी जावे। कल तक सबके चित्त को हरने वाली आज खुद से ठगी गयी। उसकी मर्मान्त पीड़ा कराह में परिणत हो, उस निर्जन में करुण क्रन्दन बनकर रह गयी।

भिक्षुक उपगुप्त आज उस रास्ते गुजर रहा था। उसके कानों में नारी की करुण कराह पहुँची। भिक्षुक करुणा की जीवन्त प्रतिमा था। सीधे उस नारी के पास पहुँचा और उसकी दशा देखकर द्रवीभूत हो उठा। उसने अपने कमण्डलु के पवित्र जल से उसका उपचार करना शुरू कर दिया।

नर्तकी अचेत पड़ थी। भिक्षुक के हाथों की कोमल छुअन से उसकी मूर्च्छा टूटी। घाव के कीड़े पानी के उपचार से जैसे ही बाहर हुए, उसने पलकें खोली।

उसने देखा कि वही भिक्षुक उसकी सेवा में निरत है। नर्तकी ने आश्चर्य चकित हो धीमी आवाज में कहा- ''तुम आ गये! अब आये हो। इस समय मैं तुम्हें क्या दे सकती हूँ। मेरे पास अब बचा ही क्या है?''

उपगुप्त ने कहा- ''मैं बिलकुल ठीक समय पर आया हूँ। इस समय तुम्हें मेरी और सिर्फ मेरी जरुरत है। इस समय तुम्हारी जो मदद मैं कर सकता हूँ कोई दूसरा नहीं कर सकता।'' और वह उपचार में जुट गया।

नर्तकी भिक्षुक के चरणों में गिर पड़ी बोली-''भिक्षुक! तुम भिक्षुक नहीं, भिक्षुक के वेश में देवता हो। इन्सान नहीं, इन्सान के रूप में भगवान् हो। मैं तुम्हारे अन्दर की पवित्रता से अभिभूति हूँ। मैं तो उस समय अपने यौवन के रसपान से तुम्हें तृप्त करना चाह रही थी। परन्तु तुमने तो मेरी आत्मा को जगा दिया।''

भिक्षुक ने कहा- ''सीप का नहीं मोती का, दीप का नहीं ज्योति का सम्मान करना चाहिए।''

मेरी दृष्टि मात्र ऊपरी देह पर ही नहीं, मैं उसमें विराजित विदेही आत्मा का सत्कार करता हूँ। ऊपरी रूप को नहीं, भीतरी स्वरूप को पहिचानो, ऊपरी चर्म को नहीं, जीवन के मर्म को जानो। मुझे तो अभी भी तुम्हारी निर्मल आत्मा की आभा दिखाई पड़ रही है।

धन्य हैं, ऐसे लोग जो शरीर के तल से ऊपर उठकर आत्मा के स्तर पर जीते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए भगवान् महावीर ने कहा है-

''जे गिलाणं पिरहरई ते धण्णा''

जो दीन दुखियों और पीड़ितों की पीड़ा का परिहार करते हैं, वे धन्य हैं। शास्त्रों में सेवा/वैय्यावृत्ति का महत्त्व बताते हुए उसे धर्म का एक बड़ा रूप और कर्त्तव्य बताया गया है। एक सच्चा धर्मात्मा का मन सदैव दीन-दुःखियों की सेवा में तत्पर रहता है। वह निरन्तर यही भावना भाता रहता है-

दीन दुःखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा श्रोत बहे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे॥

सेवाधर्म सम्यग्दर्शन से जुड़ा है। सम्यग्दर्शन का एक गुण है- अनुकम्पा। अनुकम्पा का मतलब है- पर की पीड़ा को देखकर अन्तरंग में कँपकँपी उत्पन्न हो

जाना। अपनी पीड़ा पर तो कोई आँसू बहा लेते हैं, इसमें क्या विशेषता? लेकिन वे लोग सचमुच महान् हैं जिनकी आँखों में पर पीड़ा देखते ही आँसू छलक पड़ते हैं। वस्तुतः वह आँसू नहीं मोती है। कहते हैं– पर की पीड़ा में बहाया गया नीर, नीर नहीं मोती है, क्योंकि नीर ही मोती बनता हैं सीप के मुखमें और अपनी पीड़ा पर बहाया गया नीर, नीर नहीं विष है, नीर ही विष बन जाता है साँप के मुख में।

पराई पीर पर नीर बहाना सम्यग्दृष्टि/धर्मात्मा की पहिचान है। जिसका हृदय दया से द्रवीभूत नहीं, उसमें धर्म का अंकुर सम्भव नहीं है। जैसे कठोर धरती पर कुछ भी अंकुरित नहीं होता वैसे ही दया विहीन क्रूर प्राणी के हृदय में धर्म का अंकुरण सम्भव नहीं है। सम्यग्दृष्टि/धर्मात्मा का मन दया से भींगा रहता है। वह जग के प्रत्येक प्राणी को अपने ही समान मानता है। उसकी सोच में आत्म सत्ता की दृष्टि से उसमें और जग के अन्य प्राणियों में कोई अन्तर नहीं होता। सारा जग उसे अपना ही प्रतिबिम्ब नजर आता है। सन्त कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने से भिन्न–जग के अन्य प्राणियों को अपने समान समझने लगता है उसके मन में, सेवा, करुणा, दया और अनुकम्पा का सागर लहराता है। उसकी संवेदना अत्यंत व्यापक होती है। उसे पर की पीड़ा अपनी जैसी महसूस होने लगती है। उसके लिए तो यही कहा जा सकता है–

तड़फता देखता हूँ, जब कोई शै।
उठा लेता हूँ अपना दिल समझकर॥

इस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमल जी के जीवन का एक बड़ा मार्मिक प्रसंग है। पण्डित जी जैनदर्शन के प्रबुद्ध विद्वान हुए हैं, वे आध्यात्म के रसिक माने गए हैं।

जयपुर में एक बार पण्डित जी के आचार्यत्व में सिद्धचक्र महामण्डल विधान हो रहा था। वे पूजा/विधान के माध्यम से श्रद्धालुओं को धर्मध्यान और प्रवचन का लाभ कराते थे।

एक दिन धवल पवित्र वस्त्र पहने वे घर से मन्दिर की ओर जा रहे थे। तभी उन्होंने देखा कि एक बुढ़िया रास्ते में फिसल कर गिर गई और कराह रही है। पण्डित जी का मन मर्माहत हो उठा। वे सीधे बुढ़िया के पास पहुँचे। संभवतः उसकी हड्डी टूट गई थी। उन्होंने अपने शुद्ध वस्त्रों की परवाह न कर वृद्धा को गोद में उठाया और सीधे चिकित्सक के पास ले गये। उसका उपचार कराया।

इधर पण्डित जी के न पहुँचने से, प्रतीक्षारत श्रावकों की आतुरता आक्रोश में बदल चुकी थी क्योंकि डेढ़ घण्टे का बिलम्ब हो गया था। जब वे विधान स्थल पर पहुँचे तो लोगों ने उन्हें काफी उलाहना दिया।

पण्डित जी ने शान्त स्वर में कहा–''आप लोगों का पाठ आज अवश्य ही अधूरा रह गया है, पर सिद्धचक्र का सच्चा पाठ आज मैं पूरा करके आ रहा हूँ।'' और उन्होंने सारी घटना सुना दी। वे कहने लगे–''हम कितनी ही धार्मिक क्रिया, अनुष्ठान, स्वाध्याय, पूजन और सत्संग क्यों न करें, इनकी भले ही अपनी महत्ता है, लेकिन ये तभी सार्थक हैं जब दीन दुःखी/पीड़ित प्राणी की सेवा में हाथ आगे बढ़ाएँ। व्यक्ति यदि अन्दर से कठोर और संवेदन हीन है तो उसके जीवन में सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति के बिना व्यक्ति धर्मात्मा नहीं कहला सकता।''

प्रशम,संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति के चिन्ह हैं। अनुकम्पा गुण से युक्त व्यक्ति पर की पीड़ा को अपने में अनुभव करता है। इसलिए कहा जाता है–

सेवा धर्म समाज की, आगम के अनुकूल।
अनुकम्पा, करुणा, दया जैन धर्म का मूल॥

आज लोग पूजा–पाठ धार्मिक क्रियाओं को जितना महत्त्व देते हैं, सेवा, करुणा और परोपकार की वृत्ति उतनी ही गौण होती जा रही है। धार्मिक क्रियाओं का अपना महत्त्व है पर धर्म उतना ही नहीं है। धर्म के व्यापक स्वरूप को समझना चाहिए। सच्चा धर्मात्मा/सम्यग्दृष्टि मात्र मन्दिर में विराजित भगवान् की ही पूजा नहीं करता, उसकी दृष्टि में घट–घट में विराजित भगवान् भी रहते हैं। संत कहते हैं मन्दिर में विराजित भगवान् की पूजा तो मूर्ति पूजा है पर किसी दीन दुःखी प्राणी को सेवा भी जीते जागते भगवान् की पूजा से कम नहीं है। मेरी दृष्टि में सेवा भी पूजा है। आचार्य समन्तभद्र महाराज ने अपने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में भगवान् की पूजा को वैय्यावृत्ति/सेवा में अन्तर्गर्भित किया है। उसका भी यही रहस्य समझना चाहिए। अतः दीन–दुःखी जीवों की सेवा को अपना कर्त्तव्य और पूजा मान कर करें। मैं तो कहता हूँ–भगवान् की पूजा

से पुण्य मिल सकता है, पर प्राणी सेवा से न केवल पुण्य मिलता है, पुण्य की प्राप्ति के साथ-साथ आनन्द और सुख भी मिलता है। प्राणी-सेवा करने के बाद व्यक्ति को जो सुख और सन्तोष मिलता है, उसे कहा नहीं जा सकता। वह तो मात्र अनुभवगम्य है। इस सन्दर्भ में कुरल काव्य में बड़ी सार्थक बात लिखी है-

यः कश्चिदुपकारो हार्दिकः क्रियते बुधैः।
न किंचिद् वस्तु तत्तुल्यं भूतले वा सुरालये॥

हार्दिक उपकार से बढ़कर न तो कोई चीज इस भूतल पर मिल सकती है, न ही स्वर्ग में। एक बड़ा प्रेरक प्रसंग है-

प्रसिद्ध सन्त रंगदासजी जब छोटे थे, तो एक बार उनके पिता ने उन्हें बाजार से फल लाने के लिए कुछ पैसे दिये। रंगदास बाजार में गये। वहाँ उन्होंने भूख से छटपटाते एक परिवार को देखा। उनका मन दया से द्रवीभूत हो गया। रंगदास ने अपना सारा पैसा उन्हें दे दिया। पीड़ित परिवार बहुत प्रसन्न हुआ। उन्होंने भोजन सामग्री खरीदी और भूख मिटाई। रंगदास खाली हाथ घर लौटे।

पिता ने पूछा- ''बेटे फल नहीं लाये?''

''पिताजी! मैं आपके लिए अमर फल लेकर आया हूँ।'' रंगदास ने जबाब दिया।

''कहाँ है वह अमर फल?'' पिता ने उत्सुकता पूर्वक पूछा।

''आप यही कहते हैं कि किसी गरीब को अपना द्रव्य देने से परलोक में अमर फल मिलता है। अतः भूख से छटपटाते लोगों को देखकर मैंने वे पैसे उन्हें दे दिये। हम फल खाते तो दो चार क्षण के लिए हमारा मुँह मीठा होता, किन्तु उन लोगों की कई दिन की भूख की तड़फन शान्त हो गई।''

पिता ने पुत्र के उत्तर को सुनकर उसे अपनी छाती से लगा लिया। ठीक ही है-

भूखा-प्यासा पड़ा पड़ोसी, तूने रोटी खाई क्या?
दु:खिया पास पड़ा है तेरे, तूने मौज उड़ाई क्या?
दु:खियों के दु:ख देखकर, आँसू चार बहाया कर।
प्रेमी बनकर, प्रेम से ईश्वर के गुण गाया कर॥

आज के मनुष्य की संवेदन बहुत मोथली होती जा रही है। उसकी सोच अत्यन्त संकीर्ण होती जा रही है। परिणामतः मानवीय भावनाओं का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। आज दूसरों की सेवा मात्र शास्त्रीय आदर्श की बात बनती जा रही है। जीवन व्यवहार में उसकी झलक बहुत कम दिखाई पड़ती है। एक समय था जब लोग अपने धन और क्षमताओं का उपयोग दूसरों की भलाई के लिए किया करते थे, पर आज वह सब अपनी मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा के लिए किया जाने लगा है। सुरा-सुन्दरी के चक्कर में पानी की तरह पैसा बहाने वाले लोगों की आज कमी नहीं हैं, पर किसी दीन-दु:खी, जरुरत-मन्द के लिए देने को उनके पास कुछ नहीं है। आज के तथाकथित धर्मात्मा जनों की भी यही स्थिति बनती जा रही है। वे अपनी मान बड़ाई के लिए, हाथी पर बैठने के लिए दान के नाम पर लाखों रुपया दे सकते हैं, पर किसी पीड़ित की सहायता के लिए एक रुपया भी नहीं निकाल सकते हैं।

हम पत्थर की मूर्तियों की दो-दो घण्टे पूजा करते हैं लेकिन जीवित भगवानों की सदा उपेक्षा करते हैं।

एक जगह बहुत बड़ी Exhibition (प्रदर्शनी) लगी थी। एक चित्रकार के अच्छे-अच्छे चित्रों की प्रदर्शनी थी। उसका एक चित्र एक लाख डालर में बिका। वह व्यक्ति उस चित्र को खरीदकर जब बाहर आया तो देखता है कि एक भिखारिन बाहर बैठी भिक्षा माँग रही है। इसको देखकर उस व्यक्ति ने एक डालर भी उसकी झोली में नहीं डाला। उस व्यक्ति ने अपने सहायक सचिव से सहज में पूछ लिया- ''यह बुढ़िया कौन है? और क्यों बैठी है?'' सचिव कहता है-''यह वही बुढ़िया है, जिसका चित्र आपने एक लाख डालर में लिया है।''

यह हमारे जीवन की बिडम्बना है कि चित्र तो एक लाख का परन्तु जीवित चरित्र एक डालर का भी नहीं है।

जड़ का मूल्य एक लाख डालर और चेतन का मूल्य एक डालर भी नहीं। यदि अपने आपको जड़ता से मुक्त रखना चाहते हो तो चेतन का मूल्यांकन करना सीखना होगा।

ऐसे लोगों को सम्बोधित करते हुए आचार्य गुरुवर ने बड़ी अच्छी बात कही है-

भूखा परिसर देखकर, भोजन करते आप।
फिर भी खुद को समझते, दयामूर्ति निष्पाप॥

आज की संस्कृति पर तीखा व्यंग्य है।जो मनुष्य पीड़ित मानवता को देखकर अपने हाथ आगे नहीं बढ़ाता, वह मनुष्य नहीं है। सक्षम शरीर और बलिष्ठ हाथों की सार्थकता दूसरों की सेवा में हैं, उन्हें सहारा/सम्बल देने में है। आचार्य गुरुवर कहते हैं-

''दीन दु:खी जीवों की पीड़ा को देखकर जिनकी आँखों में पानी नहीं आता, वह आँख, आँख नहीं छेद है। छेद तो नारियल में भी होता है।'' वस्तुत :-

वह आँख, आँख नहीं, वह दिल, दिल नहीं।
जिसे किसी की मुसीबत नजर नहीं आती॥

जो मुनष्य सक्षम होकर भी किसी की मुसीबत में सहायक नहीं बनता, उसकी सक्षमता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। सन्त कहते हैं-तुम्हारी तिजोरी में पड़ा धन और बैंक बेलेन्स किस काम का? यदि वह किसी जरुरत मन्द के काम नहीं आए, किसी की रक्षा में सहायक नहीं बने। ऐसा धन चिन्मय-चेतना को भी जड़ बना देता है। कहा है-

धन-दोलत पाकर भी सेवा, यदि किसी की कर न सके।
दया भाव ला दु:खित जन के, दु:खों को गर हर न सके॥
मानव वह इस जीवन में, सुख शान्ति कहाँ से पाएगा।
ठुकराता है जो औरों को, वह नर भी ठुकराया जाएगा॥

वास्तविक इन्सान तो वही है जो दूसरों के दु:ख से द्रवीभूत हो जाए। 'परदु:ख कातरता' एक दैवीय गुण है। जो इससे शून्य है, भले ही वह आकृति से इन्सान हो परन्तु इन्सानियत से वह शून्य है। शास्त्रकार कहते हैं।

यस्मिन् जीवति जीवन्ति दीना: मित्राणि बान्धवा:।
सफलं जीवितं तस्य ह्यात्मार्थ एको न जीवति॥

उसी का जीवन धन्य है, जिसने सारी उम्र दीन-दु:खी, मित्र-बन्धु की मदद में गुजार दी। उसी का जीवन सफल है जो खुद के लिए नहीं दूसरों के लिए जीवन जीता है।

थोड़ा विचार करें, तुमने अपने लिए सब कुछ जोड़ा-सम्पदा, महल, वस्तुएँ, ऐशो-आराम, लेकिन संसार के अन्य प्रणियों के लिए तुमने क्या किया? तुम्हारा क्या अवदान रहा? पच्चीस वर्ष की अवस्था में एक लाख से व्यापार प्रारम्भ किया और सत्तर वर्ष की अवस्था में पचास लाख कर लिए तथा पचहत्तर वर्ष के होते ही सब कुछ छोड़कर चल दिए। इन पचास सालों में संसार के लिए तुमने कौन सा अच्छा कार्य किया, जिसको याद कर लोग तुम्हें अमर बना सकें।

काया और माया से आज तक कोई भी अमर नहीं बन सका, दोनों ही नश्वर हैं। वही अमर बना है, जो दूसरों के काम आता है। 'परदु:ख कातरता' अमरता का आधार है। सन्त कहते हैं-अपनी संवेदना को व्यापक बनाओ। हृदय को आकाश की भाँति विशाल बनाओ। मात्र अपने हित की मत सोचो? अपने धन-पैसे और साधनों का सदुपयोग कर दूसरों के काम आओ।

महापुरुषों के ऐसे अनेक संस्मरण भरे पड़े हैं, जिन्होंने जनहित कार्यों, पशु-पक्षी एवं प्रजा के कल्याण के लिए अपनी सारी सम्पदा लगा दी। सभी धर्मों में दया और सेवा की बात कही है। सेवा में-मनुष्य का धर्म बोलता है।

कौरव और पाण्डवों का युद्ध हुआ, जिसमें पाण्डवों की न्याय-नीति की विजय हुई। तब पाण्डवों की ओर से एक राजसूय यज्ञ किया गया, जिसमें बड़े-बड़े पण्डित-पुरोहितों को आमंत्रित किया गया। सहस्रों आहुतियाँ दी गईं। याचकों को 'किमिच्छक दान' दिया जाने लगा।

एक नेवला उसी राज-यज्ञ मण्डप का चक्कर काट रहा था। पण्डित-पुरोहितों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक अनोखा नेवला उस यज्ञ में क्या खोज रहा है? उन्होंने नेवले से पूछा- ''क्यों नेवले! तुम क्यों घूम रहे हो? नेवले ने कहा-मैं यहाँ यज्ञ खोज रहा हूँ?''

''क्षुद्रप्राणी! तुम्हें यहाँ कोई यज्ञ दिखाई नहीं दे रहा है? नेवला ने मुख्य पण्डित से कहा-''श्रीमान! मुझे सही में कोई यज्ञ दिखाई नहीं पड़ रहा है; क्योंकि मैंने अपने जीवन में एक यज्ञ देखा था। उसका प्रभाव मेरे शरीर पर आज भी पड़ा हुआ दिखाई दे रहा है। यदि वैसा कोई यज्ञ होता तो अवश्य उसका परिणाम दिखाई देता।''

नेवले ने आगे कहा-''आप देख रहे हैं कि मेरा आधा शरीर सुवर्णमय (सुनहरा) हो गया है और आधा साधारण ही रह गया है। पण्डितों ने आश्चर्य से पूछा-ऐसा तुमने कौन सा यज्ञ देखा था? और उस सुनहरी काया का क्या रहस्य है?''

नेवले ने घटना सुनाई-

एक राज्य में भीषण अकाल पड़ा। लोग दाने-दाने को मुँहताज हो गये। नगर में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। पाँच दिन तक निराहार रहने के बाद उसे कहीं से थोड़ा सा आटा मिला। परिवार में चार प्राणी थे-ब्राह्मण, उसकी पत्नी, बेटा और पुत्र-वधु। चार रोटी तैयार हुई। सभी के हिस्से की एक-एक रोटी थी। ब्राह्मण को अतिथि सत्कार धर्म का स्मरण आया। भोजन लेने से ठीक पहले दरवाजे पर एक भूखा अतिथि खड़ा था। उसने प्रसन्न मन से भीतर आमंत्रित किया और अपने हिस्से की रोटी उसे दे दी। अतिथि द्वारा उस रोटी को लेने के बाद भी अतृप्ति का भाव नजर आया। ब्राह्मण ने अपनी पत्नी की ओर देखा। ब्राह्मणी ने भी अपनी रोटी भूखे को खिलाकर प्रसन्नता व्यक्त की। वह इससे भी तृप्त नहीं हुआ। इसी तरह तीसरे और चौथे क्रम की रोटी भी वह खा गया और तृप्त होकर चला गया।

चारों का पेट खाली का खाली रहा। लेकिन आत्मसन्तोष की खुशी उनके चेहरे पर थी। चारों ने पानी पीकर मन को सन्तुष्ट किया। अतिथि के चले जाने के बाद थोड़ी बहुत जो झूठन वहाँ गिरी थी, मैं (नेवला) उस झूठन में जाकर लौटने लगा। जितने हिस्से में झूठन का स्पर्श हुआ, उतना शरीर सुनहरा हो गया। मैं तभी से ऐसे ही दूसरे यज्ञ की तलाश में हूँ कि अपने आधे शरीर को भी सुनहरा बना लूँ। उस ब्राह्मण के घर जैसा यज्ञ यहाँ पर नहीं हो रहा है। अन्यथा उसका प्रभाव निश्चित रूप से मेरे शरीर पर पड़ता है।

सर्वे वेदा न यत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्व भारतः।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च्र यत् कुरंते प्राणिणां दया॥ महाभारत॥

सारे वेद, यज्ञ सारे तीर्थ और अभिषेक से वह नहीं मिलता, जो प्राणी की दया के प्रभाव से मिलता है। अतः जीवों की दया, सेवा और उनकी रक्षा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

सागर (म.प्र.) की जैन समाज ने ''भाग्योदय तीर्थ'' और ''गौशाला'' खोलकर सेवा व्रत का महान् तीर्थ रचा है। आचार्य श्री के मन में मानव सेवा और पशु-सेवा के भावों के ये दोनों प्रतीक हैं। इनके माध्यम से सेवा का एक ठोस उपक्रम जैन समाज गढ़े, जिससे जैन धर्म की अहिंसा मूलक भावना सेवा के कल्पतरु के रूप में वृद्धिगत हो।

जिस दिन हम मरेंगे, हमारे शरीर का खून-पानी बन जायेगा और शरीर-मिट्टी में मिल जायेगा। जिस दिन हम अपने खून का उपयोग किसी की सेवा में लगा देंगे, वह खून अमृत बन जायेगा। सेवा से शरीर की माटी भी सोना बन जाती है। महत्व सम्पन्नता या गरीबी का नहीं है, महत्व है भीतर की भावना का।

एक स्वर्ण का दीया है, एक मिट्टी का दीया है।

स्वर्ण के दीये में न तेल है, न बाती। तो उसमें ज्योति कहाँ से आयेगी। लेकिन मिट्टी के दीये में तेल और तेल में भीगी हुई बाती है। वह दीया बहुत काम का है। दीया किसका बना है यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि उसमें तेल है कि नहीं, बाती है कि नहीं, ज्योति है कि नहीं। यदि आपके भीतर घट में सेवा की ज्योति स्फुरित हुई है, हृदय के दीये में सद्भावों के तेल में भींगी, करुणा की बाती दिख रहीं है, तो समझना वहीं मूल्यवान् है।

राजा रंतीदेव, एक प्रजा वत्सल राजा थे। वे अतिथि सेवा को अपना मूल धर्म मानते थे। उन्होंने दीन-दुःखियों की सेवा में अपना सर्वस्व लुटा दिया था। उनके जीवन की एक मार्मिक घटना है।

उनके राज्य में अकाल पड़ा उन्होंने सारे राज-कोष को दीन-दुःखी जीवों को समर्पित कर दिया।

जब एक-एक करके सारा खजाना खाली हो गया, तो इस आपातकालीन स्थिति को देखकर उन्होंने तत्काल निर्णय लिया और अपनी पत्नी व पुत्र के साथ वन को प्रस्थान कर दिया।

राज्य का परित्याग करके चालीस दिन तक वह निराहार रहें। इसी बीच चालीस दिन के बाद अप्रत्याशित रूप से एक व्यक्ति भोजन की थाली लेकर प्रकट हुआ। चालीस दिन के बाद भोजन देखकर उन्हें राहत मिली और सारे भोजन को उन्होंने तीन हिस्सों में बाँटा। जैसे ही वे खाने को तैयार हुए उनके मन में एक हूक सी उठी कि कोई अतिथि मिल जाता तो वह इस आपातकाल में भी मेरा व्रत पूरा हो जाता। इतना सोचा ही था कि एक ब्राह्मण सामने आ गया। अपने हिस्से का भोजन उन्होंने ब्राह्मण को दे दिया। ब्राह्मण खा-पीकर जैसे ही वहाँ से चला कि एक अंत्यज सामने आ गया। अंत्यज को आता देख, उन्होंने पत्नी के हिस्से का भोजन भी आगे कर दिया। अंत्यज उसे पाकर प्रसन्न हुआ।

देखते ही देखते एक चाण्डाल अपने कुत्तों के साथ वहाँ आ धमका। उन्होंने अपने पुत्र का भोजन उस चाण्डाल व कुत्तों को खिला दिया। कुत्तों ने इतनी उछल-कूद मचाई कि पात्र में जो पानी रखा था, वह भी बह गया।

इस आपातस्थिति में भी उन्होंने रंचमात्र भी क्लेश नहीं किया। सब कुछ समर्पित कर देने के बाद उन्हें इस बात का सन्तोष था कि इस संकट काल में भी हमारा धर्म पल गया।

तभी आकाश में दिव्यवाणी हुई।

देखा-सामने साक्षात् भगवान् प्रकट हो गये हैं। वे कहने लगे-हमने तुम्हारे सेवा-व्रत की परीक्षा लेने के लिए यह उपक्रम रचा था। यह स्पष्ट हो गया है कि तुम इस कठिन दौर में भी सेवा-व्रत से नहीं डिगे। हम प्रसन्न हैं-माँगों, क्या वर माँगना चाहते हो। रंतीदेव ने जो वर माँगा वह मानवता का सर्वोच्च आदर्श बन गया।

नत्वहम् कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां, प्राणिणामर्तिं नाशनम्॥

"भगवान! मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग। मैं अपुनर्भव/मोक्ष भी नहीं चाहता। यदि आप प्रसन्न होकर मुझे कुछ देना चाहते हैं तो सदैव दीन-दुःखी प्राणियों की पीड़ा हरने की सामर्थ्य मुझे दे दें। मैं सब कुछ प्राप्त कर लूँगा।"

बन्धुओं! वही व्यक्ति महान् माना जाता है, जो किसी की पीड़ा का प्रतिकार करने के आगे बढ़ता है। हम आपसे यही चाहते हैं कि अपनी संवेदनशीलता को व्यापक बनाएँ और परदुःख कातरता को अपनाएँ।

★ ★ ★

समता : जीवन की मूल सम्पदा

भगवान् महावीर स्वामी की दिव्य-देशना में 'आत्म-अनुशासन' की बात प्रमुखता से कही गयी है। आत्मा अपनी मौलिकता से स्खलित हैं-क्यों? यह अपने परमात्म स्वरूप में क्यों नहीं आ पा रहा है? स्पष्ट है-आत्म नियंत्रण की रेखा को लांघा जा चुका है, परिणामतः वह भटका हुआ है। जैसे सीता ने लक्ष्मण रेखा को लांघा और रावण के हाथों छली गयी। इसी प्रकार, यह आत्म देव, अपनी आत्मनियंत्रण रेखा को लांघने के कारण भव-भ्रमण में भटका हुआ है।

प्रायः व्यक्ति स्वयं पर, स्वयं का अनुशासन स्थापित नहीं कर पाते, जिससे उनका जीवन उच्छृंखल हो दुःखी बना हुआ है।

जीवन का इष्ट लक्ष्य है-भव दुःख से छूटकर परम सुख को प्राप्त करना। अपने विकारों पर विजय प्राप्त किये बिना तज्जन्य दुःख से उपरांत हो सकता है? नहीं। विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिए पहले स्वयं पर विजय पानी होगी।

विकार हम पर हावी इसलिए हो जाते हैं; क्योंकि हम ही अपने विचारों से हार जाते हैं। हम दूसरों पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, दूसरों पर वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं, दूसरों पर प्रभुत्व कायम करने की कोशिश में पहले हम स्वयं से हारते हैं; क्योंकि दूसरों को आधीन करने वाला व्यक्ति अपने आप में बहुत कमजोर है।

भगवान् महावीर ने जीवन के इस रहस्य को समझा/आत्मसात किया। उनके पास सत्ता, सम्पदा और शक्ति तीनों थें। लेकिन उन्हें ये रास नहीं आये। बाहर के व्यक्ति पर साम्राज्य स्थापित करने और उसे आधीन बनाकर हम सत्ता या सम्पदा प्राप्त कर सकते हैं परन्तु जीवन की मूलभूत सम्पदा को नहीं पा सकते। जीवन की मूल सम्पदा है-समता।

सत्ता, सम्पदा और शक्ति के व्यामोह से दूर होकर ही व्यत्ति समता को प्राप्त

कर सकता है। भगवान् महावीर जीवन के हर गूढ़ रहस्य को भली भांति जानते थे, अत: उन्होंने दूसरों पर अनुशासन करने की अपेक्षा स्वयं को अनुशासित करने पर जोर दिया।

दूसरों पर अनुशासन विषमता पैदा करता है। विषमता विषाक्त/दु:खदायी होती है। जो अपने को जीत लेता है, दुनियाँ उसके चरणों में झुक जाती है। जो स्वयं एक को जीत लेता है, वह सब जग को जीत लेता है। जो स्वयं को नहीं जीत पाता, वह जगत् को जीतकर भी हारा हुआ है।

आज व्यक्ति आवेग और उद्वेगों के नियंत्रण में जी रहा है। कषायों का आवेग आता है और वह व्यक्ति को अज्ञात दिशा में बहाकर ले जाता है। जो क्रोध के वशीभूत है, वह दूसरे की छाती पर बैठकर गर्वोन्मत्त रहता है, जो माया और लोभ के वशीभूत है, वह पदार्थो में उलझा रहता है। इस प्रकार वह समता और स्वाधीनता के आनन्द से वंचित रहता है।

इसी प्रकार इन्द्रियों की वासनाओं के आधीन रहने वाला इन्द्रियजन्य सुख को ही सच्चा सुख मान बैठता है, जबकि सुख स्वात्म निधि है। उसका वासनाओं से क्या लेना देना है?

भगवान् महावीर ने अपने भीतर जो 'महावीरत्व' प्रकट किया था वह किसी बाहुबल का अवलम्बन लेकर नहीं, अपितु अपने अन्दर की कषायों के आवेगों को निर्मूल करके और वासनाओं को विसर्जित करके प्रकट किया था। पहले वे इन सभी से मुक्त हुए थे, सभी स्वाधीनता का रस ग्रहण कर पाये।

आज, इन्सान का जीवन, उस कठपुतली के समान है, जो किसी दूसरे के इशारे पर नाचती है। मनुष्य के अवचेतन मन पर विगत जन्मों के जो संस्कार होते हैं, वह उन्हीं से प्रेरित होकर जीता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार–मनुष्य की चौदह मूल वृत्तियाँ होती है। मनुष्य पूरी तरह उन्हीं से प्रभावित हो, उन्हीं का शिकार बना होता है। जैन आगम के अनुसार उन्हें राग–द्वेष, मोह में गर्भित किया जा सकता है। सन्त कहते हैं– कि जीवन में इन मूल वृत्तियों का परिष्कार अथवा उदात्तीकरण करके, इन्हें नियंत्रित रखकर जीवन को समुन्नत बनाना चाहिए।

पेशे से डॉक्टर, सज्जन मेरे पास आये और कहने लगे ''महाराज! सुनते तो हम बहुत कुछ हैं, परन्तु इस सब पर नियंत्रण कैसे करें? ऐसा कोई सिस्टम नहीं है कि एक बार में कुछ नियंत्रित हो जाए। आप आत्मा की इतनी बातें करते हैं। अध्यात्म को इतना महिमा मंडित करते हैं। कुछ पल्ले नहीं पड़ता।''

आज विज्ञान का युग है। आत्मा तो दिखती है नहीं पर बात आत्मा, आत्मा की होती है। इससे अच्छा विज्ञान है कि बटन दबाओं और लाइट जल जाती हैं।

मैंने कहा–अध्यात्म एक 'सुपर साइन्स' है। इसमें तो बटन दबाने की भी जरुरत नहीं पड़ती। ओटोमैटिक लाइट जल जाती है। परन्तु विचार करो कि यह लाइट केवल बटन दबाने से ही जल जाती है या इसके पीछे कुछ और सिस्टम है।

यदि बटन दबायें और बल्ब फ्यूज हो तो....? कदाचित् बल्ब ठीक है और कटआउट का फ्यूज उड़ा हुआ हो तो क्या लाइट जल पायेगी? बल्ब का सम्बन्ध स्विच बोर्ड से है, वह मैनस्विच से जुड़ा है। मैनस्विच मीटर से, मीटर पोल से सम्बन्धित है। पोल ट्रान्सफारमर से तथा खम्बों के माध्यम से पावर हाउस से जुड़ा है। पावर हाउस का संचालन भी 'टरबाइन' की घूर्णनगति से है। अगर इस पूरे सिस्टम में, एक खम्बा भी उखड़ जाये तो क्या लाइट जल सकती है? फिर कोई कैसे कह सकता है कि बटन दबाने से लाइट जल जाती हैं?

ठीक इसी प्रकार–अध्यात्म का भी पूरा एक सिस्टम है। यदि आपका 'कनेक्शन' सही है तो वह प्रकाश–प्रस्फुटित हो जाता है। चर्चा, तत्त्व की करें और रुचि विषयों के प्रति हो। चर्चा अध्यात्म की हो तथा अबुद्धि पूर्वक क्रोध, मान, माया और लोभ के संस्कार का काम रहे हों तो अध्यात्म का प्रकाश कैसे प्रकट हो सकता है? अबुद्धि पूर्वक किए गये कार्य को नियंत्रित नहीं किया जा सकता।

एक व्यक्ति को क्रोध आता है और उसे पता ही नहीं चलता कि उसने गुस्सा कब कर लिया? उसे बाद में ख्याल आता है कि हम गुस्से में थे। यह अबुद्धिपूर्वक संस्कार का उदाहरण है। जब एक क्रोधी व्यक्ति से कहो कि भैया! गुस्सा क्यों हो रहे हो? तब वह कहता है–''अरे! मैं गुस्सा कब हो रहा हूँ, यह तो हमारी भाषा है।'' यदि गुस्सैल आदमी क्रोध को अपनी भाषा मानकर स्वीकार कर ले, तो वह कभी भी क्रोध पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

क्रोध पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए क्रोध के प्रति जागरुक होना जरूरी है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं-

"जो क्रोध को जान लेता है वह उसे तब तक प्रकट नहीं करता, जब तक वह इच्छा नहीं करता। ज्ञानी इच्छा विमुख हो जाता है। अत: ज्ञानी पुरुष क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है।"

आत्मानुशासन का पहला सूत्र है- आत्म-नियंत्रण। आत्मा पर हावी होने वाले आवेगों और उद्वेगों पर नियंत्रण्र करने से, अपनी तमाम बुराईयों पर नियंत्रण करने से आत्म-नियंत्रण की कला सीखी जा सकती है।

किसी भी आवेग को नियंत्रित करने के लिए मैं मुख्य रूप से दो छोटे उपाय करने का सुझाव प्रस्तुत करता हूँ। क्रोध-आवेग को नियंत्रित करने के लिए पहले क्रोध करने की आदत (Habit)में परिवर्तन करना आवश्यक है। इसके लिए आप किसी अपने अन्तरंग-मित्र (सहयोगी)की सहायता लें। उसके प्रति आपका आतंरिक अनुराग होना चाहिए।

उसे यह उत्तरदायित्व सौंप दिया जावे कि जब आप गुस्सा करें तो उसका वह अहसास करा दे। प्राथमिक भूमिका में वह मित्र-टोका लगा दें कि गुस्सा क्यों हो रहे हो? वह दो चार बार सावधान करा दे कि ऐसे अपशब्द का प्रयोग क्यों किया गया?

इससे नियंत्रण की क्षमता का विकास होगा। सामने वाले ने टोका लगाया और आप जागरुक हो गये। जागरुक होने पर आपका चिन्तन शुरू हो जायेगा, कि क्रोध क्यों किया? यह हानिकारक है, पापबन्ध का कारण है, परिवार और समाज में तनाव का कारण है, आप भीतर ही भीतर नियंत्रित होना शुरु कर देंगे।

यद्यपि गृहस्थ- पाप या बुराई से बच नहीं पाता है, परन्तु उन बुराईयों को नियंत्रित करने की प्रक्रिया का विकास अवश्य कर सकता है।

नियंत्रण का दूसरा उपाय है-कि जब कोई आवेग आप पर हावी होने लगे आप तुरन्त 'णमोकार मन्त्र' पढ़ने का संकल्प ले लें। जैसे ही णमोकार मन्त्र पढ़ना शुरु कर देगें, वह आपकी जागरुकता का एक निमित्त बन जायेगा।

शास्त्रों में कथन आया है कि-"जब कभी आर्त ध्यान हो, उससे बचने के लिए णमोकार मन्त्र का नौ बार ध्यान रुप पढ़ना शुरू कर दें। " इस प्रकार जब कोई विकार हमारे मन में आता है तो अपने किसी इष्ट मन्त्र की आराधान क रने से

उपयोग बदल जाता है और उस क्षण वह विकार टल जाता है। आत्म-अनुशासन का यह प्रथम पाठ है।

दूसरों को जीतने या विजय पाने की कोशिश न करें। दूसरों को जीतने वाले बड़े-बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती चले गये, आज उनका नामों निशान इस पृथ्वी पर नहीं है, परन्तु जिन्होंने स्वयं को जीत लिया वे भगवान् बन गये।

'जिन' शब्द का तात्पर्य क्या है?

'जिन' वही होता है, जिसने अपने आप को जीत लिया। जिसने स्वयं पर स्वयं का अनुशासन स्थापित कर लिया।

आत्मा के जागरण की स्थिति में 'जिनत्व' उपलब्ध हो जाता है।

आध्यात्म उसी के जीवन में घटित होता है, जिसकी आत्मा प्रतिबुद्ध होती है। प्रतिबुद्ध का तात्पर्य है-'जागरुक होना' जागरुक आत्मा-आध्यात्म का अनुभव कर सकता है। बाहरी प्रभुत्व, वैभव, वर्चस्व पाने की लालसा अज्ञानता है।

आत्मा-अनुशासन का दूसरा सूत्र है-दूसरों के कार्यो में अपनी प्रतिबद्धता का आरोपण करना बन्द कर दे। "

परिवार हो या समाज झगड़े का एक कारण होता है कि हम अपनी बात दूसरों पर थोपना चाहते हैं। स्व-आग्रह को दूसरों पर लादना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि परिवार के छोटे-बड़े सब लोग मेरी इच्छा के अनुरूप ही चलें।

पिता कहता है-बेटा मेरा कहना माने।

बेटा चाहता है- पिताजी मेरी सोच के अनुसार चलें।

बेटा आज की सोच और सन्दर्भ से व्यापार करना चाहता है।

पिताजी पच्चीस वर्ष पूर्व की बात को आज के साँचे में ढालना चाहते हैं। यहाँ पिता अपनी प्रतिबद्धता को बेटे पर डाल कर उसे मनवाना चाहता है। विचारों का टकराव ही झगड़े का कारण बनता है। 'तनाव'-विचारों के इस अन्तर से उपजता है।

पिताजी यदि यह सोचे कि मैंने अपने तरीके से जिन्दगी जी है, बेटे को अपने तरीके से जीने दो, तो हो सकता है कि इस समन्वय में सम्मान का भाव बना रहे। यदि दोनों अपने अपने कर्त्तव्यबोध से बँधे रहें, तो आत्म-अनुशासन स्वयमेव आ जायेगा।

आरोप-प्रत्यारोप तथा बात बताने और जताने की न होकर, यदि परस्पर दूसरे की प्रतिभा का सम्मान होने लगे तो यह आत्म-अनुशासन का एक उत्कृष्ट उदाहरण हो सकता है। आत्म-अनुशासन में बड़ों का बहुमान और छोटों के प्रति वात्सल्यभाव का मूल आधार रहता है। यदि इसकी अनदेखी या उपेक्षा कर दी जावे तो कलुषता और कलह का वातावरण उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर जी ने एक प्रसंग में बहुत भाव-पूर्ण बात लिखी जो परिस्थितियों से समझौता करने की एक न्यायसंगत प्रेरणा देता है। उन पंक्तियों का भाव मैं व्यक्त करना चाहता हूँ। पके पीले पत्तों ने खिलती हुई कलियों से कहा कि बहन तुम इस उपवन में आराम से खिलो और खेलो। मैं नीचे की हरी घास में विश्राम करने जा रहा हूँ।

दो पीढ़ी की भाव व्यंजना को प्रकृति के इस अनुपम उदाहरण में अभिव्यक्त किया है प्रभाकर जी ने।

आत्मा-अनुशासन का तीसरा सूत्र है- ''स्वयं प्रतिबुद्ध होकर रूपान्तरण करना।''

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि आप जिस बुराई को जीतना चाहते हो, उससे सम्बन्धित कुछ आदर्श वाक्यों का चिन्तन, मनन और स्मरण करें। उन बोध वाक्यों को अपने मानस-पटल पर बार-बार रेखांकित करें। ऐसा करने से, स्व-प्रेरणा के सिद्धान्त से खुद अपने द्वारा स्वयं को समझाने की कला का विकास होगा। जैसे कोई अपने क्रोध, विकार, उद्वेग पर नियंत्रण करना चाहता है, तो प्रात: काल उठते ही वह क्रोध के प्रतिपक्षी आदर्श वाक्यों का चयन, संकलन, स्मरण, चिन्तन द्वारा यह धारण मजबूत करे कि क्रोध एक अस्थाई पागलपन है।

क्रोध-तनाव का जनक है। वह चिन्तन करे कि क्षमा गुण का विकास कर क्रोध को जीता या नियंत्रित किया जा सकता है? यदि बार-बार मन में चिन्तन की पुनरावृत्ति करता रहेगा तो क्रोध के प्रति उसकी जागरुकता बढ़ेगी और ऐसे संस्कारों के प्रति उसकी अभिरुचि जगेगी जो क्रोध को दूर करने में सहयोगी/सहायक हैं।

वैज्ञानिकों का मत है कि ऐसे चिन्तन से शरीर की कुछ ग्रन्थियों से ऐसे रासायनिक रक्तस्राव होने लगते हैं, जो आदतों में रूपान्तरण कर देते हैं। हमारे

आध्यात्मिक गुरूओं ने हजारों वर्ष पूर्व ही अनुप्रेक्षाओं के माध्यम से बार-बार चिन्तन करने के लिए प्रेरणा दी। बारह प्रकार की भावनाएँ वर्णित हैं, जिनके अनुचिन्तन से स्वभाव में परिवर्तन लाया जा सकता है।

स्वभाव-परिवर्तन की कोई सीधी और शार्टकट प्रक्रिया नहीं है कि आज ही वह उपलब्ध हो जाए। आप बाजार से लाईट के सारे उपकरण खरीदकर ला सकते हो, परन्तु इसके साथ पूरे टरबाइन कनेक्शन का भी आपको ख्याल रखना पड़ेगा, जिसके बिना 'लाईट' प्राप्त नहीं की जा सकती।

आत्म-अनुशासन का चौथा सूत्र है- 'सत्संग'। स्वभाव पर नियंत्रण पाने या उसे बदलने का एक सशक्त निमित्त होता है-संतों का समागम या सत्संग।

साधु-प्रेरणा का सोपान है। साधु का सान्निध्य जीवन में नई प्रेरणाओं को जीवन देता है। साधु-समता और सहिष्णुता का आधार होता है। जिसे देखकर व्यक्ति अनुकरणीय प्रवृत्ति के कारण उन जैसा बनने की एक संकल्प शक्ति अर्जित करता है। साधु की वाणी को आत्मसात् कर वह कुछ अच्छा बनने की प्रतिबद्धता को दुहराता है।

विचारों का सम्प्रेषण-मनुष्य के आत्म-संयम और उसकी आचरण शैली को बहुत प्रभावित करता है।

हीन व्यक्ति के समागम से हमारी बुद्धि भी हीन हो जाती है। समान व्यक्ति के समागम से बुद्धि समान बनी रहती है और अपने से विलक्षण व्यक्ति से सत्संग से उसमें भी विलक्षणता आती है। भले लोगों की संगति से व्यक्तित्व का विकास होने लगता है, जबकि बुरे लोगों की संगति से व्यक्तित्व का विनाश होने लगता है।

सुमति जहाँ, तहाँ सम्पत्ति नाना,
कुमति जहाँ, तहाँ विपति निधाना।

अच्छे वातावरण एवं पर्यावरण का प्रभाव हमारी जीवन शैली पर पड़े बिना नहीं रहता। अच्छा परिवेश-स्वभाव में मधुरता का सृजन करता है। स्वभाव में स्थिरता लाता है। स्वभावगत बुराईयों को दूर करता है।

एक व्यक्ति ने शराब पीने का त्याग कर दिया, परन्तु वह शराबी व्यक्ति से दूर

नहीं रहता है या शराब की दुकान और वातावरण से अपने आप को दूर नहीं करता है, तो एक दिन उसका मन कमजोर पड़ जायेगा और वह पुन: शराब पीने का आदी हो जायेगा। परिस्थितियाँ ही आदतों का निर्माण करती है। बुराई पर विजय पाने के लिए बुरी परिस्थितियों से बचाव करने की कोशिश करनी होगी। बुराई-एक ढलान की भाँति होती है। जैसे ढलान में बिना शक्ति के वस्तु गतिशील बन जाती है, ठीक इसी तरह मन भी बुराई के प्रति आकर्षित होता है। कमजोर मन-बुराई को जल्दी पकड़ लेता है। कमजोर इच्छा शक्ति वाला परिस्थितियों का गुलाम जल्दी बन जाता है।

'सत्संग' व्यक्ति को दृढ़ इच्छा शक्ति वाला बनाता है।

उत्कृष्ट साधक के लिए भवन और वन, दोनों समान होते हैं। यदि उसने मन को नियंत्रित कर लिया तो, चाहे भवन में रहे या वन में, विशेष फर्क नहीं पड़ेगा, परन्तु नया साधक यदि भवन और वन की समानता को जानकर भवन में रहने लगता है, तो उसकी साधना चौपट हो जायेगी। भगवान् महावीर ने आत्म-अनुशासन की परम साधना के लिए भवन को त्यागकर वन को स्वीकार किया था। अत: जो आत्मा का अनुशासन पाना चाहते हैं, उन्हें अपने परिवेश को, अपने चिन्तन को सत्संग की ओर, स्वाध्याय की ओर उन्मुख कर लेना चाहिए।

प्रात: काल उठकर प्रत्येक आत्म-अनुशासी साधक को कम से कम दस पन्द्रह मिनट तक यह चिन्तन अवश्य करना चाहिए कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? जो कर रहा हूँ, वह सही है या नहीं? मेरी स्वभाव में कोई दुर्बलता है या नहीं?

आत्म-अनुशासन का पाँचवाँ उपाय है-संकल्प, संकल्प में अद्‌भुत शक्ति है। व्यक्ति जैसा संकल्प करता है वैसा बन जाता है। कहा है-

सर्व: स्व संकल्पवशाद् लघुर्भवति वा गुरु:।

संकल्प से ही व्यक्ति छोटा-बड़ा अथवा भला-बुरा बनता है। दुष्ट संकल्प उसे कामी, क्रोधी, लोभी, चोर, डाकू, और हत्यारा बना सकते है, तो सत्संकल्प चित्त के तल में छिपी दैवीय शक्तियों को जगाकर उसे शान्त, विनम्र उदार तथा सन्त-पुरुष भी बना सकता है।

जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी महानता का मूल आधार उनका संकल्प

ही है। सत् संकल्प का सुरक्षा कवच पहनकर चलने वाला साधारण व्यक्ति भी एक दिन असाधारण बन जाता है। वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने ध्येय के प्रति एकनिष्ठ और समर्पित रहता है, सिद्धान्तों पर अटल रहता है, चट्टानों को चीर कर पथ बना लेता है, वादियों में गुलाब खिला देता है और कीर्ति के शिखरों पर जा बैठता है। संकल्प वह चमत्कारी शक्ति है जो व्यक्ति में अभूतपूर्व रूपान्तरण को घटित कर देती है।

एक गुरु अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। अचानक एक शिष्य ने चट्टान को देखकर गुरु से प्रश्न किया-'क्या इससे भी कठोर कुछ हो सकता है? गुरु ने उत्तर नहीं दिया बल्कि यही प्रश्न शिष्य मंडली से पूछने लगे। एक ने कहा-लोहा चट्टान से भी बड़ा है जो उसे काट सकता है। दूसरे ने कहा लोहे से बड़ी आग है जो उसे गला सकती है। तीसरे शिष्य ने तुरन्त कहा-आग से जल बड़ा है जो आग को देखते ही देखते बुझा देता है। तभी चौथा बोला-जल से तो हवा बड़ी है जो उसे सुखा कर उड़ा देती है। हवा से बड़ा कौन इसके उत्तर में पाँचवा शिष्य 'प्राण' कहने जा रहा था और मेधावी शिष्य श्रेष्ठता की सामर्थ्य का यह क्रम बढ़ाने को तैयार थे। तभी गुरुदेव ने कहा-''शिष्यों सबसे बड़ा है मनुष्य का 'संकल्प' । इसके होने से ही प्राण जीता है और चट्टान जैसी बाधा हट जाती है।''

अपने जीवन में रूपान्तरण के लिए उस संकल्प की आवश्यकता है, जो अपने संकल्प में दृढ़ रहता है, वह सतत आगे बढ़ते जाता है। पर इसके लिए सतत जागरुकता अपेक्षित है। जागरुक प्रयत्नों से ही संकल्प को सिद्धि तक पहुँचाया जा सकता है; क्योंकि लापरवाही आत्मा का वह जंग है, जो दृढ़ संकल्प को भी क्षार-क्षार कर देता है। अनेक व्यक्ति ऐसे हो है जो लक्ष्य ऊँचा रखते हुए भी अपने संकल्प के लचीलेपन के कारण वहाँ तक पहुँच नहीं पाते। अत: अपनी संकल्प शक्ति का विकास करें। संकल्प शक्ति के जाग्रत होते ही अपने विकारों पर विजय पाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सभी अपने जीवन में सत् संकल्प धारण कर जीवन का गुणात्मक परिवर्तन कर आत्मानुशासन को प्राप्त कर सके, इसी शुभभावना से अपनी वाणी को विराम दे रहा हूँ।

★ ★ ★

जैन साहित्य एवं मंदिर उपकरण

हमारे यहाँ सभी प्रकार का दिगंबर जैन एवं भारत के सभी प्रमुख
धार्मिक संस्थानों का सत साहित्य एवं मंदिर में उपयोग हेतु उपकरण
और प्रभावना में बाटने योग्य सामग्री सीमित मूल्य पर उपलब्ध है

(पांडुशिला ,सिंघासन, छत्र, चवर प्रातिहार्य,जाप माला ,मंगल कलश, पूजा बर्तन ,चंदोवा,तोरण ,झारी ,

(शुद्ध चांदी के उपकरण आर्डर पर निर्मित किया जाता है)

नोट:-हमारे यहाँ घरो में उपयोग हेतु ,साधुओ के उपयोग हेतु,
अनुष्ठानों में उपयोग हेतु शुद्ध घी भी आर्डर पर
उपलब्ध कराया जाता है

SOURABH KUMAR JAIN
9993602663
77229 83010
SOURABHJN1989@GMAIL.COM

जय जिनेंद्र
श्री
शुद्ध घी
देशी गाय का शुद्ध घी
शुद्धता पूर्वक बनाया गया देशी घी
साधु व्रती एवं धार्मिक अनुष्ठानों को ध्यान
में रखकर बनाया गया शुद्ध देशी घी
पहले इस्तेमाल करें फिर विश्वास करें
संपर्क सूत्र
CONTACT FOR ORDER
CALL AND WHATSAPP
9993602663
7722983010

Contact for order
Call and whatsapp
9993602663
7722983010

9993602663

10"
11"
13"

11"
13"
15"

णमोकार महामंत्र
णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायणं
णमो लोए सव्वसाहूण
एसो पंच णमोकारो, सव्व-पावप्पणासणो ।।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

जी महाराज

5feet

6.5
22/29

18/29
5.5

पीतल डिब्बा सेट

REDMI NOTE 5 PRO
MI DUAL CAMERA

WEIGHT
42040
Essae
DS-852

WEIGHT g
4060
Essae
DS-852

WEIGHT g
2156.5

दिगंबर जैन ग्रंथो की पीडीएफ
के लिये हमारे whatapp नंबर
पर संपर्क करें
09993602663
सौरभ सागर (इंदौर)